लोकतंत्र

तरुण भारती

लोकतंत्र

80 प्रश्न और उत्तर

डेविड बीथम एवं केविन बॉयले

अनुवाद : **देसराज गोयल**

भूमिका : **निखिल चक्रवर्ती**

कार्टून : **आर. के. लक्ष्मण**

यूनेस्को पब्लिशिंग के सहयोग से



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

संयुक्त राष्ट्रसंघ शिक्षा, विज्ञान तथा सस्कृति सस्था—यूनेस्को की अनुमति से प्रकाशित

ISBN 81-237-1772-5

पहला संस्करण : 1996

तीसरी आवृत्ति · 2001 (*शक* 1923)

Democracy 80 Questions and Answer *(Hindi)*

रु. 35.00

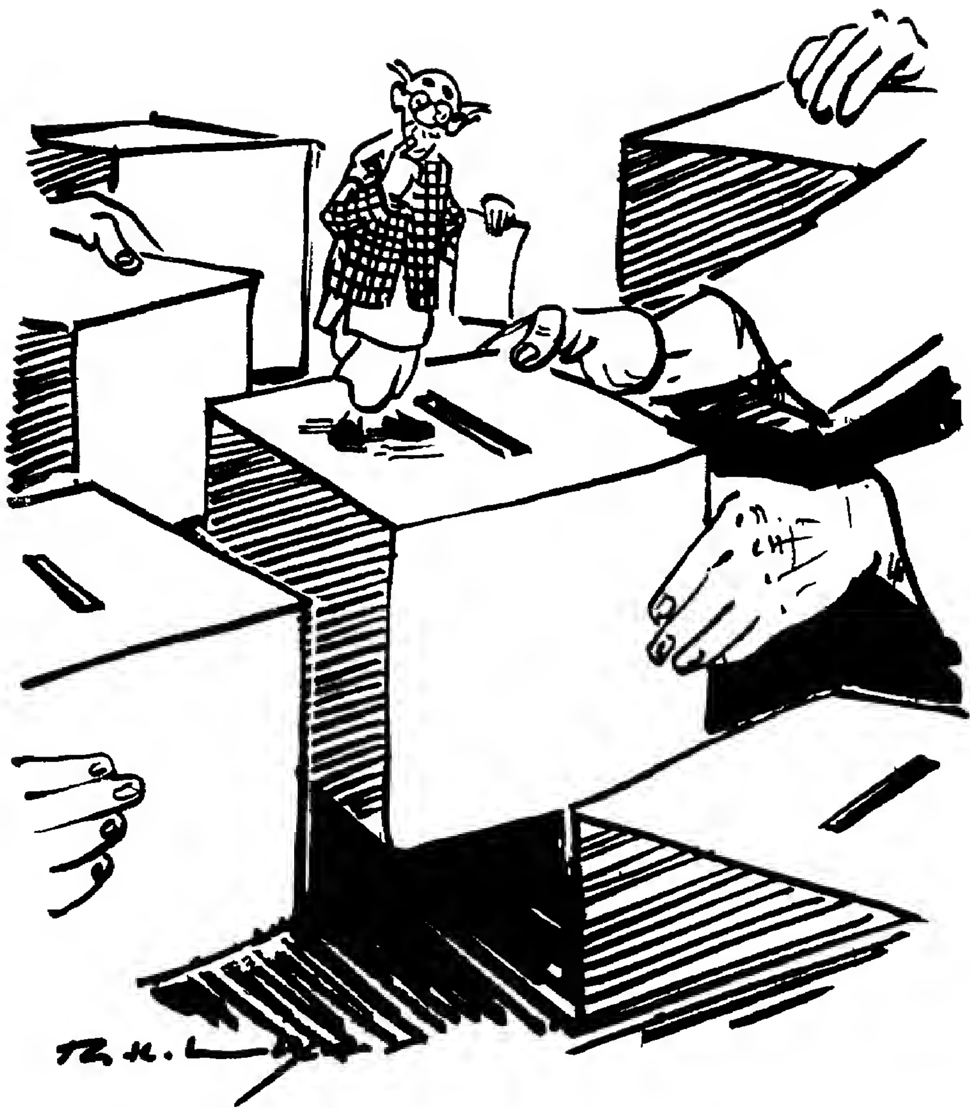
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क

नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

यह पुस्तक यूनेस्को की लोकतंत्र एव मानव अधिकार संबंधी शिक्षा-योजना के तहत लिखवाई गई है और एक साथ अनेक भाषाओं में प्रकाशित हो रही है।

इस प्रकाशन में जो पद संज्ञाएं इस्तेमाल की गई हैं और सामग्री जिस रूप में प्रस्तुत की गई है उनसे किसी देश, भूखंड, नगर या क्षेत्र अथवा उनके अधिकारियों की वैधानिक स्थिति या उनकी सीमाओं के निर्धारण के बारे में यूनेस्को सैक्रेटेरियट का किसी रूप में कोई अभिमत प्रकट नहीं होता।

इस पुस्तक में दिए गए तथ्यों का चयन एवं उनकी प्रस्तुति तथा इसमे व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखको की है। जरूरी नहीं कि यह प्रस्तुति या विचार यूनेस्को के भी हों और यूनेस्को इनके प्रति प्रतिबद्ध नहीं है।



लोकतंत्र में आम आदमी तय करता है कि उसका मालिक कौन हो।

मानवाधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा

अनुच्छेद-21

1. प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने देश के शासन में सीधे तौर पर या आजादी से चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से हिस्सा ले।
2. प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सार्वजनिक सेवाओ में शामिल होने का समान अधिकार है।
3. शासन का अधिकार लोक-इच्छा पर आधारित होगा। यह लोक-इच्छा समय समय पर कराए गए प्रामाणिक चुनावों के जरिए व्यक्त होगी। ये चुनाव सर्वजनीन तथा समान मताधिकार की बुनियाद पर तथा गुप्त मतदान अथवा ऐसी ही किसी अन्य प्रक्रिया के अनुसार कराए जाएंगे।

टिप्पणी : उपर्युक्त घोषणा में 'उसका' शब्द 'महिला तथा पुरुष' दोनो पर आज के संदर्भ में समान रूप से लागू होता है।

विषय सूची

भूमिका

नागरिक समाज के व्यवस्थित सचालन के लिए लोकतंत्र के उपयाग का इतिहास लंबा और ऊचनीच से भरा हुआ है। अपने देश भारत के प्राचीन गणतत्रो अथवा यूरोप के एथेन्सी लोकतंत्र का इतिहास ही हमें दो हजार वर्ष पीछे ले जाता है और हम देखते हैं कि उस काल के मानव समाज में भी लोकतंत्रीय संस्थाएं किसी-न-किसी रूप मे विद्यमान थीं।

मानवीय गतिविधि जैसे जैसे व्यापक रूप लेती गई, मानव दृष्टि में भी व्यापकता आती गई। नागरिक समाज निर्माण करने की आकांक्षा ने मनुष्य को लोकतंत्र की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया क्योंकि यही ऐसी व्यवस्था है जिसमे सर्वसाधारण को अधिकतम भागीदारी का अवसर मिलता है। इससे केवल निर्णय करने की प्रक्रिया ही में नही अपितु कार्यकारी क्षेत्र मे भी भागीदारी उपलब्ध होती है। अपने विकास-क्रम के विभिन्न चरणो में लोकतंत्र ने भिन्न भिन्न परिस्थितियों को अन्यान्य मात्रा में सुनिश्चित करने का प्रयास किया है।

हमारे देश मे स्वतत्रता सग्राम से लोकतंत्र को बेहद प्रोत्साहन मिला। कारण कि इस सग्राम का आधार मुख्यतया विशाल सामान्य जन की सक्रिय भागीदारी थी। यह हथियारों से किसी छोटे से गुट तक सीमित नहीं था। विदेशी साम्राज्य से मुक्ति पाने के लिए संग्राम की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से हमें लोकतंत्रीय गणतत्र स्थापित करने की प्रेरणा मिली। परिणामतया गणतत्र के उद्घाटन के साथ ही साथ व्यस्क मताधिकार और प्रतिनिधि शासन का भी प्रादुर्भाव हुआ। यह एक ऐसी उपलब्धि है जिसकी प्राप्ति के लिए अन्य देशों को जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं, शताब्दियां लग गई।

हमने लोकतत्र का जो प्रयोग किया है, उससे कई प्रकार की सीख मिल सकती हैं। पहली तो यह कि क्या केवल मताधिकार से वैसा बहुमत का शासन स्थापित हो जाता है जिसका आश्वासन लोकतंत्र से अपेक्षित है ? हमारे संविधान में जिस चुनाव-विधि का प्रावधान है उसके अनुसार किसी चुनाव-क्षेत्र में सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले को विजयी घोषित कर दिया जाता है। इसका

यह भूमिका प्रकाशक द्वारा पुस्तक के भारतीय सस्करण में जोड़ी गई है।

अनिवार्यतया यह अर्थ नहीं कि जिसको सबसे अधिक मत मिले हैं, उसको मतदाताओं के बहुमत का समर्थन भी प्राप्त है। यह भी सभव है कि जिन्होंने मतदान किया है, उनका उस क्षेत्र विशेष में बहुमत ही न हो।

हमारे निर्वाचित शासन की इस प्रकार की कमजोरियों पर देश भर में निरंतर चर्चा चलती रहती है। चुनाव-प्रक्रिया में सुधार की जो माग उठ रही है, वह अपने ही देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के सजीव अनुभव से उभरी है। इसी प्रकार, चुनाव पर होने वाला व्यय भी चिंता का विषय बना रहता है क्योंकि इसके कारण चुनाव में लोकतंत्रीय तत्व कमजोर हो जाता है। इस प्रकार हमारे देश के लोकतांत्रिक प्रयोग की जांच-पडताल वही लोग निरंतर करते रहते हैं जो इसका संचालन कर रहे है। लोकतंत्रीय पद्धति के और भी बहुत-से पक्ष हैं जिन पर गहन विचार चलता है। अन्य पक्षों के अतिरिक्त प्रतिनिधि को वापस बुलाने के अधिकार पर भी विचार होता है। अपने लोकतंत्रीय संविधान के प्रहरी के रूप मे न्यायपालिका की बडी महत्वपूर्ण भूमिका है।

हमारे देश के बहुमुखी नागरिक समाज की गतिविधियों के फैलाव को देखते हुए लोकतंत्रीय व्यवस्था का क्षेत्र अधिक व्यापक करने की आवश्यकता भी बहुत लोग महसूस करते है। इस दृष्टि से पंचायत व्यवस्था का प्रवेश हमारे लोकतत्र के विकास में मील के पत्थर के समान है। इससे लोकतत्रीय व्यवस्था निम्नतम स्तर पर भी पहुंच जाती है। भारतीय लोकतंत्र की यह एक अत्यत महत्वपूर्ण देन है। इससे हमारे लोकतंत्र को चिरस्थायी आधार मिलेगा। इस विशाल भूखड के कोने कोने में फैले हुए सभी गाव इस लोकतंत्रीय नागरिक समाज के संचालन मे भागीदार हो जाएंगे।

लोकतंत्र के हमारे पांच दशकों के व्यापक अनुभव से बहुत दूरगामी परिणाम निकाले जा सकते हैं। अन्य मानव समाजों की भांति हमें भी ध्यान रखना होगा कि मात्र लोकतंत्रीय ढांचा बना लेने से नागरिक समाज में सच्चा लोकतत्र सुनिश्चित नहीं होता। आर्थिक दृष्टि से सुविकसित देशों के अनुभव से भी यही जाहिर होता है कि एक सीमा तक सामाजिक-आर्थिक न्याय के अभाव में लोकतंत्र सच्चा नहीं कहा जा सकता। यदि एक ओर ऊंची अट्टालिकाओं की सुख-समृद्धि हो और दूसरी ओर झुग्गी-झोपड़ी का दुख और कष्ट से भरा जीवन, तो सच्चे अर्थो में लोकतंत्र नहीं बन सकता। हमारे जैसे विकासशील देशों मे यह विषमता और अधिक भीषण रूप में सामने आती है क्योंकि यहां सर्वसाधारण की बहुसंख्या को गरीबी और कंगाली से पाला पड़ता है।

यह हमारे युग की मुह-बोलती विडंबना है कि ऐसे समय में, जब विज्ञान और तकनीक का विलक्षण विकास मनुष्य को आकाश की ऊंचाइयों में पहुंचा रहा है, जब मेधावी मानव वंश प्रारूप (जीन) की अदला-बदली के प्रयोग करने को उद्यत

है, तो धरती के अधिकतर निवासी गरीबी और अभाव का शिकार हैं। जब तक इस विषमता का अंत नहीं किया जाता, नागरिक समाज लोकतंत्रीय कहलाने का हकदार नहीं बन सकता। यह चुनौती है आज लोकतंत्र प्रेमी मानव समाज के सामने।

इस पुस्तक में लोकतंत्रीय व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। लोकतंत्र के अध्ययन से उठने वाले अन्यान्य प्रश्नों का उत्तर पाने में इससे भरसक सहायता मिल सकती है। ऐसी सुदर पुस्तक लोकतंत्र के निर्माण से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति के लिए बहुमूल्य सहयोगी है।

–निखिल चक्रवर्ती

लेखकों की प्रस्तावना

'लोकतंत्र' की बात लोग प्राय करते हैं परंतु अलग अलग लोग इसका अलग अलग अर्थ लगाते हैं। लोकतंत्र वास्तव मे क्या है, इसे लेकर अनेक प्रकार के भ्रम फैले हुए है। इसका अर्थ व्यक्तिगत स्वाधीनता है या बहुदलवाद, बहुसंख्यको का शासन अथवा अल्पसंख्यको के अधिकार ? या फिर कुछ और ? क्या कोई ऐसी सर्वमान्य कसौटी है जिसके आधार पर कहा जा सके कि अमुक देश लोकतत्रीय है या यह अनुमान लगाया जा सके कि इसने लोकतंत्र के विकास मे कितनी प्रगति की है ? क्या कोई ऐसी संस्थाए या व्यवहार है जिनका किसी देश मे होना उसके लोकतत्रीय कहलाने के लिए आवश्यक हो ? क्या लोकतत्र के मार्ग और रूप भिन्न भिन्न भी हो सकते हैं ?

इस पुस्तक में हम इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करेंगे। हमारे कुछ उत्तर अधिक सुनिश्चित हैं कुछ कम। स्पष्ट है कि किसी ऐसे देश को लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता जिसमें चुनावी प्रतिस्पर्धा या सर्वजनीन मताधिकार का अभाव हो, या जिसमें निर्वाचित राजनीतिज्ञो का अनिर्वाचित शासनाधिकारियो पर कोई नियंत्रण न हो या जहा सस्था बनाने, सभा करने या अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य की गारटी न हो। इनमें से कुछ विषयो पर सर्वमान्य अतर्राष्ट्रीय मानदड है जिनको अपना सदर्भ-बिंदु बनाया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा को या चुनावी प्रक्रिया की प्रामाणिकता को लिया जा सकता है। अतर्राष्ट्रीय सस्थाओं तथा गैर सरकारी संगठनो ने कुछ देशों के व्यवहार को सालों देखकर इनके मानदंड सुनिश्चित किए हैं। अन्य बातों के विषय में मानदंडों का विकास बहुत कम हुआ है और सहमति भी कम है। कुछ और विषयों में भिन्न भिन्न देशों का व्यवहार भिन्न भिन्न है। उनमें से किसी एक को दूसरो से स्पष्टतया अधिक लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। इसके प्रमुख उदाहरण हैं उनकी चुनाव व्यवस्थाएं, उनके शासन प्रमुख (कहीं राष्ट्रपति, कहीं प्रधानमंत्री), उनकी विधि व्यवस्थाएं इत्यादि। लोकतंत्र को समझने का अर्थ है लोकतांत्रिक व्यवहार की उचित विविधता तथा इसके अनिवार्य अंगों की जानकारी।

शीत युद्ध समाप्त होने के बाद से, लोकतंत्र एक सार्वभौम आदर्श बन गया

है। अब लगभग सभी देश इसे अंगीकार करना चाहते हैं। इसलिए एक ऐसी पुस्तक विशेष रूप से सामयिक मानी जाएगी जो लोकतंत्र का समुचित निरूपण प्रस्तुत कर सके। यह पुस्तक मुख्यतया नए और विकासशील लोकतंत्रों के लिए है जहां के नागरिक, निर्वाचित प्रतिनिधि और लोक सेवक एक ऐसी पुस्तक चाहते हैं जिसके आधार पर वे लोकतंत्र के व्यवहार संबंधी जटिल प्रश्नों के सीधे और स्पष्ट उत्तर पा सकें। दूसरे, यह पुस्तक विकसित लोकतंत्रों के उन अनेक नागरिकों के लिए भी है जिनकी अपने अपने देश के लोकतंत्र के बारे में समझ अस्पष्ट है। लोकतंत्र को बनाए रखने तथा इसकी जड़ें और गहरी करने के लिए जानकार नागरिक बुनियादी शर्त हैं। हमारी आशा है कि यह पुस्तक जानकारी अथवा शिक्षा प्रदान करने की दिशा में सहायक सिद्ध होगी।

हमारा कतई यह दावा नहीं है कि आज लोकतंत्र के सामने कोई कठिनाई नहीं है। लोकतंत्रों को बड़ी बड़ी चुनौतियों का सामना करना है : जातिगत, सांप्रदायिक तथा ऐसे ही अन्य भेद-विभेदों की चुनौती; बेकारी और आर्थिक मंदी या भारी परिवर्तन की चुनौती; अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के हाथों सत्ता-हानि की चुनौती; और, लोगों में इस भावना का प्रवेश कि उनको अपने जीवन पर भी अधिकार नहीं रहा। हम इन समस्याओं का हल तो नहीं दे रहे परंतु यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि लोकतंत्र की सुरक्षा के लिए इनके समाधान का बहुत बड़ा महत्व है।

परंतु पहला प्रश्न तो यह है कि हम लोकतंत्र को मूल्यवान क्यों समझें ? प्रिय पाठक, हमारे विचार में आगामी पृष्ठों में इसका उत्तर आप स्वयं ढूंढ़ सकेंगे। यदि आप इस पुस्तक के बारे में अपने विचार हम तक पहुंचाना चाहें तो पॉलिटी प्रेस अथवा नेशनल बुक ट्रस्ट के माध्यम से हमें लिखें। आपके विचारों का स्वागत है। हमें आशा है, आपको यह पुस्तक उपयोगी लगेगी।

डेविड बीथम,
केविन बॉयले

1

बुनियादी अवधारणाएं तथा सिद्धांत

1. लोकतंत्र क्या है ?

सारी जिंदगी हम भिन्न भिन्न समूहो तथा सगठनो के घटक बने रहते हैं–परिवार, पड़ोस, क्लव तथा रोजगार की इकाइयों से लेकर राष्ट्रो तथा राज्यों तक। इन सभी संगठनों में, चाहे वह छोटे हों चाहे बड़े, समूचे सगठन के बारे में निर्णय करने होते है कि क्या उद्देश्य सामने रखा जाए, नियमावली क्या हो और इसके घटकों के बीच उत्तरदायित्वों तथा लाभों का बटवारा कैसे हो। इन सबको सामूहिक निर्णय कहा जाता है, जबकि वे निर्णय जो लोग अकेले अपने तौर पर लेते हैं व्यक्तिगत निर्णय कहलाते हैं। लोकतंत्र सामूहिक निर्णय-निर्धारण की एक पद्धति है। यह इस आदर्श को लेकर चलता है कि जिन निर्णयों से सारा समूह या संगठन प्रभावित होता हो, वे उस सगठन के सभी घटकों की सहमति से होने चाहिए और सभी घटकों को निर्णय लेने में शामिल होने का बराबर अधिकार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहा जाएगा कि लोकतंत्र के दो मूल सिद्धांत हैं। एक तो सामूहिक निर्णयों पर सार्वजनिक नियंत्रण और दूसरे, वह नियंत्रण लागू करने मे अधिकारों की समानता। जिस हद तक ये दोनों सिद्धांत किसी संगठन की निर्णय-निर्धारण पद्धति में विद्यमान हों, उस हद तक उसे लोकतांत्रिक कहा जा सकता है।

समाज और राज्य में लोकतंत्र

लोकतंत्र की इस परिभाषा से दो बातें शुरू मे ही स्पष्ट हो जाती है। पहली बात तो यह कि लोकतंत्र का संबंध केवल राज्य या शासन से नहीं है जैसा कि लोग प्रायः समझते हैं। लोकतंत्र के सिद्धांत हर प्रकार के समूह के सामूहिक निर्णय की पद्धति पर लागू होते हैं। वास्तव में, राज्य के स्तर पर लोकतंत्र तथा समाज के अन्य संगठनों में लोकतंत्र के बीच बड़ा महत्वपूर्ण संबंध है। परंतु राज्य के स्तर पर लोकतंत्र का मौलिक महत्त्व है क्योंकि राज्य में सभी संगठन समाहित हैं, राज्य

को सारे समाज के जीवन को नियमबद्ध करने का, अनिवार्य कर-वसूली का और राज्य के घटकों की जीवन-मृत्यु तक पर पूरा अधिकार है। इसलिए हमारी चर्चा प्रायः लोकतांत्रिक शासन के विषय पर केंद्रित रहेगी।

एक सापेक्ष अवधारणा

हमारी परिभाषा के बारे में समझने की दूसरी बात यह है कि लोकतत्र में ऐसा नहीं होता कि या तो सब कुछ है या कुछ भी नहीं। अर्थात किसी संगठन या समूह में लोकतंत्र के सभी अंग-प्रत्यंग होना जरूरी नहीं। मात्रा कम या ज्यादा रहती है। कहीं सार्वजनिक निर्णय-निर्धारण में समान भागीदारी के आदर्श से समीपता एक जैसी नहीं होगी। प्रचलित परिपाटी यह रही है कि हम उस शासन को लोकतांत्रिक मानते हैं जिसमें शासन के सार्वजनिक पदों के लिए चुनावी मुकाबला होता है, जिसमें सभी व्यस्क नागरिकों को चुनाव लड़ने और मतदान का समान अधिकार रहता है और जहां नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के लिए वैधानिक सुरक्षा उपलब्ध होती है। परंतु कोई राज्य ऐसा नहीं जहां सार्वजनिक नियंत्रण और राजनीतिक समानता, व्यवहार में, पूर्ण रूप से दिखाई देती हो। इस दृष्टि से लोकतंत्रीकरण का काम कभी खत्म नहीं होता। सब जगह लोकतंत्रवादी लोकतत्रीय सिद्धांतो की उपलब्धियों के स्थायित्व और विस्तार के लिए संघर्षरत रहते हैं, वे चाहे जिस तरह के शासन और राजनीतिक पद्धति में रह रहे हों।

2. हमें लोकतंत्र को क्यों महत्व देना चाहिए ?

लोकतत्र को महत्व देने के अनेक कारण हैं।

समान नागरिकता

लोकतत्र का उद्देश्य है सभी लोगों से समान व्यवहार। "प्रत्येक व्यक्ति एक के बराबर ही गिना जाएगा और कोई भी एक से अधिक के बराबर नही", कानून के अंग्रेज सिद्धांतकार जेरेमी बेथम ने उस अभिजात दृष्टिकोण पर प्रहार करते हुए लिखा जिसके अनुसार कुछ लोगों का जीवन अपने आप में ही अन्यों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होता है। समानता के सिद्धात का अभिप्राय न केवल यह है कि शासन की नीति द्वारा सबके हितों की समान रूप से सुरक्षा हो, बल्कि यह भी है कि उनके विचारों को भी समान महत्व दिया जाए। "हम धन के आधार पर कोई विशेष अधिकार नहीं देते", यूनानी नाटककार यूरिपिडीज़ के एक नाटक में एक एथीनियन ने कहा, "गरीब की आवाज का महत्व भी उनके समान ही है।"

लोकतत्र के आलोचकों ने हमेशा इस पर आपत्ति का यह आधार बनाया है कि अधिकांश लोग इतने अज्ञानी, अशिक्षित और अदूरदर्शी होते हैं कि वे सार्वजनिक नीतियों के निर्धारण मे भाग लेने के योग्य नहीं माने जा सकते। इस पर लोकतत्रवादियों का जवाब होता है कि जनता को सूचनाओं की जरूरत निश्चित रूप से होती है और उसका मतलब समझने के लिए उन्हें समय भी अवश्य चाहिए, परतु जब जरूरत हो तो वे जिम्मेदार भूमिका अदा करने में पूरी तरह सक्षम होते हैं। जैसे हम अपेक्षा रखते हैं कि सभी व्यस्क अपनी जिंदगी को निर्देशित करने की जिम्मेदारी ले सकते है, वैसे ही वे समाज के जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णयों मे भाग लेने की क्षमता भी रखते हैं।

सार्वजनिक जरूरतों की पूर्ति

सामान्य जनता की जरूरतो को पूरा करने मे लोकतंत्रीय शासन के अन्य प्रकार के शासन की तुलना मे अधिक कारगर होने की सभावना रहती है। नीति-निर्देशन मे जनता की आवाज जितनी अधिक शामिल होगी, उस नीति में उनकी चिंताओं और आकांक्षाओं की उतनी ही अधिक झलक मिलेगी। एक प्राचीन एथीनियन कहावत है, "जूता बनाता तो मोची है लेकिन पहनने वाला ही बता सकता है कि वह चुभता कहां है।" शासन की नीति का प्रभाव व्यवहार मे तो साधारण जनता ही महसूस करती है। यह अनुभव शासन की नीति में तभी झलकता है जब नीचे से प्रभाव और दबाव डालने के मार्ग प्रभावकारी और सम्यक रूप से खुले हो। सार्वजनिक पदाधिकारियों की नीयत कैसी भी अच्छी क्यो न हो, यदि वे जनता के नियत्रण और प्रभाव से उन्मुक्त हैं तो उनकी नीतियो के पक्ष में इससे अधिक नहीं कहा जा सकता कि वे जनता की आवश्यकताओं को देखते हुए उपयुक्त नहीं होंगी। खराब से खराब स्थिति यह हो सकती है कि वे स्वार्थ तथा भ्रष्टाचार पर आधारित हों।

बहुवाद और समझौता

लोकतंत्र वाद-विवाद, समझाने-बुझाने और समझौते पर भरोसा करता है। लोकतंत्र में वाद-विवाद पर जोर केवल इसलिए नहीं होता कि नीति के अधिकाश सवालो पर दृष्टिकोणों और हितों में मतभेद होता है, बल्कि इसलिए भी कि मतभेदों की अभिव्यक्ति और उनका सुना जाना लोकतंत्र का अनिवार्य अंग है। इस तरह लोकतंत्र विविधता और बहुवाद तथा नागरिकों के बीच समानता को आधारभूत तत्व मानकर चलता है। और जब ऐसी विविधता प्रकट होती है तब मतभेदों को

सुलझाने की लोकतंत्रीय प्रक्रिया होती है—विचार-विमर्श, समझाना-बुझाना और समझौता। विचारों को बलपूर्वक थोपने तथा सत्ता-प्रदर्शन से समाधान नहीं किया जाता। कभी कभी 'गप-शप की दुकान' कहकर लोकतंत्र का मजाक उड़ाया जाता रहा है परंतु लोकतंत्र में होने वाली सार्वजनिक बहस को एक गुण मानना चाहिए, दोष नहीं। किसी भी नीति पर सहमति प्राप्त करने का यही सबसे अच्छा उपाय है, और यह अनिवार्यतया निर्णायक कार्रवाई का विरोधी नहीं है।

मूलभूत स्वतंत्रताओं की गारंटी

लोकतत्र मूलभूत स्वतंत्रताओं की गारंटी देता है। सामाजिक मतभेदो की खुले विचार-विमर्श द्वारा अभिव्यक्ति या समाधान उन स्वतंत्रताओं के बिना संभव नहीं जो नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की परपरा मे शामिल हैं · भाषण और अभिव्यक्ति का अधिकार, दूसरों के साथ मिलकर सगठन का अधिकार, आंदोलन का अधिकार और व्यक्ति की सुरक्षा का अधिकार इन स्वतत्रताओ में शामिल है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए लोकतंत्र पर भरोसा किया जा सकता है, क्योंकि ये उसके अपने अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। सबसे बडी बात यह है कि ऐसे अधिकार व्यक्ति के अपने विकास मे सहायक होते है और ऐसे सामूहिक निर्णयो को जन्म देते हैं जो विभिन्न तर्को और साक्ष्यो की कसौटी पर भली प्रकार परखे जा सकते है।

सामाजिक नवीकरण

लोकतंत्र सामाजिक नवीकरण को बढ़ावा देता है। जो नीतिया और नेता विफल हो गए हो या जिनकी उपयोगिता समाप्त हो गयी हो, उनको लोकतंत्र में सरल और अहिंसक विधि से हटाया जा सकता है। इस प्रकार लोकतंत्रीय पद्धतियों में सामाजिक एव पीढ़ीगत नवीकरण के लिए वैसी विशाल उथल-पुथल अथवा प्रशासन भग करने की वैसी आवश्यकता नहीं पड़ती जैसी कि गैर-लोकतंत्रीय शासन में मुख्य पदाधिकारियो को हटाए जाने पर देखने में आती है।

3. कहां से आया लोकतंत्र का विचार ?

यह विचार कि साधारण जनता को उन निर्णयों में अपनी बात रखने का हक होना चाहिए जो उनके जीवन को प्रभावित करते हैं, विभिन्न ऐतिहासिक समाजों मे जनाकाक्षा के रूप मे उभरा। ईसा पूर्व पांचवी और चौथी शताब्दियो में इस आकांक्षा

ने एथेन्स में संस्थापित संस्थान का रूप ले लिया। पाचवी शताब्दी के प्रारभ के बाद से सार्वजनिक पदों के लिए सपत्ति की योग्यता हटा दी गयी तथा प्रत्येक एथीनियन को विचार-विमर्शो मे व्यक्तिगत रूप से भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त हो गया। उन्हें समाज की नीतियो और कानूनो पर सभा में मत डालने का हक भी मिला। प्रशासन में ज्यूरी सेवा तथा प्रशासकीय परिषद के माध्यम से भागीदारी का हक भी मिला। इन पदो पर नियुक्ति बारी बारी से होती थी। प्रथम लोकतात्रिक कार्य-प्रणाली का यह उदाहरण तब से लोकतत्रवादियों के लिए संदर्भ-बिदु और प्रेरणा का स्रोत रहा है। एथेन्स की आर्थिक और नौसैनिक सर्वोच्चता और रचनात्मक कलाओ और दार्शनिक जिज्ञासाओ का व्यापक रूप से फलना-फूलना भी ठीक उसी अवधि मे हुआ। इस तथ्य से लोकतत्र के आलोचको के इस विचार की काट भी हुई कि साधारण जनता को उनके मामलों मे बोलने का हक देने से या तो नीरस एकरूपता वाले समाज का निर्माण होगा या गैर जिम्मेदार सरकार उभरेगी।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र

आज हम लोकतत्र के जिन रूपो को जानते है, उनकी तुलना मे एथेन्स का लोकतत्र कई मामलो में अधिक और कई मामलो मे कम लोकतात्रिक था। वह अधिक लोकतात्रिक इस बात मे था कि समाज के मुख्य निर्णयो मे नागरिक व्यक्तिगत रूप से (प्रत्यक्ष लोकतत्र) भाग लेते थे, जबकि आज के प्रतिनिधि लोकतत्रों में यह भागीदारी अप्रत्यक्ष है। इस प्रकार नागरिक शासन तथा ससद की निर्णय-प्रक्रिया से कम-से-कम एक पायदान दूर रहते है। प्रत्यक्ष लोकतत्र तभी सभव है जब नागरिको की सख्या अपेक्षाकृत कम हो और वे एक सभा-सदन मे समा सके। यह भी आवश्यक है कि वे अपनी अन्य जिम्मेदारियो मे से इतना समय निकाल सके कि आवश्यक प्रमाणों और तर्को को समझकर जानकारीपूर्ण राजनीतिक निर्णय कर सकें। आज के नागरिक समूह प्रत्यक्ष लोकतत्र की कोई भी शर्त पूरी नही करते, यद्यपि राष्ट्रीय स्तर पर, चुनावो द्वारा और जनता-सग्रहो में, प्रत्यक्ष निर्णय-प्रक्रिया मे उनकी भागीदारी की गुजाइश अवश्य है। स्थानीय स्तर पर निर्णय-प्रक्रिया मे उनकी और अधिक लगातार भागीदारी की भी गुंजाइश है।

विशिष्ट नागरिकता

इसके बावजूद, एथेन्स का लोकतत्र आज के लोकतंत्रो से कम लोकतांत्रिक था, क्योंकि नागरिकता स्वतत्र-जात पुरुषो तक ही सीमित थी; महिलाओं, गुलामो और

निवासी विदेशियों को नागरिकता से वंचित रखा गया था। ये वर्ग समाज के घरेलू और उत्पादक कार्यो को चलाते रहते थे ताकि पुरुष नागरिक राजनीतिक गतिविधियों में जुटे रह सकें। इस तरह प्रत्यक्ष लोकतंत्र में सक्रिय भागीदारी नागरिकता का अधिकार सीमित होने के कारण ही सभव थी। 'जनता' का शासन अवश्य था परंतु यह विशिष्ट अधिकार प्राप्त लोगों के हाथों में ही सीमित था।

आधुनिक विशिष्टता

स्मरणीय है कि नागरिकता पर इसी तरह के प्रतिबंध बीसवीं शताब्दी तक पश्चिम की अधिकांश संसदीय प्रणालियों मे भी प्रचलित थे। "सभी राजनीतिक अधिकारों का स्रोत सामान्य जनता ही है", इस सिद्धांत का प्रचलन फ्रांस की विख्यात क्रांति से आरंभ हुआ। किंतु इसका अभिप्राय सबकी भागीदारी नहीं था। इस प्रकार, अधिकाश पश्चिमी देशों में महिलाओं और संपत्तिहीन पुरुषों को मताधिकार वर्तमान शताब्दी में आकर ही प्राप्त हुआ। आज भी किसी किसी देश के सभी व्यस्क निवासियों को चुनावों में मतदान का अधिकार नहीं है, चाहे वे उनकी अर्थव्यवस्था में कितना ही बड़ा योगदान क्यों न करते हों।

4. प्रतिनिधिक प्रणाली क्या सही अर्थो में लोकतांत्रिक हो सकती है ?

अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक सिद्धातकार रूसो का विचार था कि नही हो सकती। उनका तर्क था कि प्रतिनिधिक प्रणाली मे आम लोग कई वर्षो मे एक बार अर्थात चुनाव के समय ही स्वतत्र होते है, उसके बाद वे पुनः अपने शासको के मातहत वाली स्थिति में आ जाते है जो दासता से बेहतर नही होती। यह वामपथी या अतिवादी आलोचना की अतिवादी उक्ति है कि प्रतिनिधिक प्रणाली समुचित लोकतांत्रिक प्रणाली नहीं है। इसके विपरीत दक्षिणपंथियों की आपत्ति यह है कि इस प्रणाली मे सर्वसाधारण को अत्यधिक अधिकार दे दिए जाते है।

चुनाव के माध्यम से नियंत्रण

जब नागरिकों की सख्या लाखों में हो और उनके पास राजनीतिक मामलों में लगातार संलग्न रहने के लिए समय न हो तो ऐसी स्थिति में सरकार पर जनता का नियंत्रण सुनिश्चित करने के लिए अब तक की विकसित सबसे अच्छी प्रणाली प्रतिनिधिक प्रणाली ही है। सिद्धांत यह है कि शासन के मुखिया (राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री) के चुनाव तथा उस पर निरंतर अंकुश रखने वाली विधायिका या ससद

को चुनने के अधिकार द्वारा सर्वसाधारण का सरकार पर नियंत्रण रहता है। निर्वाचित विधायिका अथवा संसद के सदस्य जनता की ओर से शासन पर चौकसी रखते हैं। विधान बनाने तथा कर लगाने के लिए अनुमति देने-न-देने का उनका अधिकार अकुश का काम करता है। फिर भी, जनता का यह नियत्रण उस हद तक ही प्रभावी होता है जिस हद तक चुनाव "निष्पक्ष और न्यायपूर्ण" हों, शासन पारदर्शी हो और ससद को, व्यवहार मे, शासन के कार्यो को नियंत्रित करने या उनकी जांच करने के पर्याप्त अधिकार प्राप्त हों।

जनमत

यद्यपि प्रतिनिधिक प्रणाली मे सरकारी नीतियो में जनता की बात रखने के प्रमुख माध्यम चुनाव ही है, परतु वही एकमात्र माध्यम नहीं। लोग विधान मे किसी भी प्रकार के बदलाव के पक्ष या विपक्ष में अभियान चलाने वाले सगठनो में शामिल हो सकते हैं, राजनीतिक दलो के सदस्य बन सकते हैं या व्यक्तिगत तौर पर अपने प्रतिनिधियो को प्रभावित कर सकते है। दूसरी ओर, सरकार को अपनी नीतियों से प्रभावित होने वाले लोगो की राय लेने या चुनिदा मतदाता वर्गो से वार्ता करने के लिए मजबूर भी किया जा सकता है। व्यवहार मे बहुत कम ही प्रतिनिधि शासन हैं जो जनमत से अप्रभावित रहते हों। जनमत निरतर सर्वेक्षण या प्रेस, रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से प्रभावित होता रहता है। सार्वजनिक प्रभाव के सब माध्यम भी अतत· चुनावी प्रक्रिया के प्रभावी होने पर निर्भर है। सरकारें तभी जनता की बात को ध्यानपूर्वक सुनेगी जब इस बात की वास्तविक सभावना हो कि यदि वे उनकी बात नही सुनेगी तो उन्हें सत्ता से हटा दिया जाएगा।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण

इस तरह, प्रतिनिधिक प्रणाली में जनता का नियत्रण शासन की नीति एवं दिशा पर चुनावो पर प्रत्यक्ष प्रभाव के माध्यम से सुनिश्चित होता है। प्रतिनिधि सभा या ससद के माध्यम से सरकार के क्रियाकलापों का लगातार पर्यवेक्षण और विभिन्न माध्यमों से जनभावना की सगठित अभिव्यक्ति के माध्यम से भी जनता का सरकार पर नियत्रण सुनिश्चित होता है। शासन को इन सभी पर ध्यान देना पडता है।

राजनीतिक समता

दूसरे लोकतंत्रीय सिद्धात, राजनीतिक समता (देखिए प्रश्न 1) का क्या अभिप्राय है ? प्रतिनिधिक प्रणाली मे इस दृष्टि से तो असमानता है कि जनता के एक छोटे-से

भाग को सबकी ओर से निर्णय करने का अधिकार दे दिया जाता है। इस सीमा के अतर्गत रहते समता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप इस हद तक अवश्य दिया जा सकता है कि सभी नागरिको को सार्वजनिक पद प्राप्त करने, सार्वजनिक हित के विषयो पर अभियान चलाने तथा शासन बिगड़ने पर उसे सुधारने का सक्रिय अधिकार दे दिया जाए। इसके अतिरिक्त, चुनाव पद्धति मे प्रत्येक व्यक्ति के वोट का मूल्य समान हो। व्यवहार मे, अधिकतर लोकतंत्र इन कसौटियों पर खरे नहीं उतरते। इन कसौटियो में संपत्ति, समय. पहुच तथा अन्य सुविधाओं की विषमना रहती है जिससे राजनीतिक समता प्रभावित होती है। प्रतिनिधिक प्रणाली में लोकतत्रवादियों का एक प्रमुख कर्तव्य यह हो जाता है कि इन विषमताओ के राजनीतिक प्रभाव को कम करें तथा शासन पर सार्वजनिक नियत्रण के विभिन्न माध्यमों को अधिकाधिक प्रभावकारी बनाए।

5. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका क्या होती है ?

किसी भी विशाल समाज मे लोग व्यक्तिगत रूप से सार्वजनिक जीवन को प्रभावित नहीं कर सकते परतु दूसरों से मिलकर यह संभव हो सकता है। राजनीतिक दल राजनीतिक पद एव प्रभाव पाने के उद्देश्य से अभियान चलाने के लिए समान विचारों और हितो के पक्षधरों को एक साथ लाते है। ये दल अनेक काम करते है। चुनाव मे मतदाताओं के लिए सहायक होते है क्योंकि यह उनके सामने विभिन्न नीतियो और कार्यक्रमो को सरल रूप से प्रस्तुत करके चुनाव का निर्णय आसान कर देते हैं। शासक दल के लिए चुनाव जीतने के उपरांत प्रस्तुत नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए पर्याप्त समर्थन उपलब्ध कराकर ये शासन की सहायता भी करते हैं। जो लोग अधिक राजनीतिक प्रतिबद्धता रखते हैं उनको सार्वजनिक जीवन मे भागीदारी का अवसर, राजनीतिक प्रशिक्षण का माध्यम तथा सार्वजनिक नीतियो को प्रभावित करने के माध्यम उपलब्ध कराते है।

निष्पक्ष प्रतिस्पर्धा

स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन पद्धति के अंतर्गत राजनीतिक दलों की सफलता इससे आंकी जाती है कि उनको चुनावों में कितना समर्थन प्राप्त है और वे उसे कहां तक स्थिर रख पाते हैं। इस कारण उनको अपने कार्यक्रम-निर्धारण तथा प्रत्याशियो के चयन में जनभावनाओं का ध्यान रखना पड़ता है। यदि ऐसा नहीं करे तो उनका समर्थन अन्य दल ले जा सकते है। यदि विकल्पी दल न हों तो नए दल रिक्त स्थान में उभर आते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल शासन पर जन-रुचि का प्रभाव



बहुदलीय प्रणाली

डालने के माध्यम का काम करते हैं। वे अपना यह कर्तव्य उसी हद तक निभा सकते हैं जिस हद तक चुनावी प्रतिस्पर्धा बराबरी के आधार पर हो अर्थात कुछ दलों को प्रशासनिक साधन तथा प्रचार सुविधाएं अन्य दलों से अधिक उपलब्ध न हों। इसका ठोस अर्थ यह है कि शासक दल/दलो पर पाबंदी हो कि वे अपने प्रशासन संबंधी तथा दल संबंधी कामों को अलग अलग रखें और एक के सगठनों का लाभ दूसरे के संगठनों के लिए न उठाएं।

सामाजिक विभाजन

राजनीतिक दलों की खुली चुनावी स्पर्धा प्रतिनिधिक लोकतंत्र का अभिन्न अग है परंतु यह इस प्रणाली की सबसे बडी कमजोरी भी है। शासकीय पद की प्राप्ति के लिए खुली स्पर्धा का प्रभाव समाज और राजनीति के लिए विभाजनकारी सिद्ध होता है। स्पर्धा मे भाग लेने वालो का इसमें बहुत-कुछ दांव पर लगा रहता है। इसलिए लोकतंत्र की सुरक्षा तभी सभव है यदि चुनाव में हारने वाले दलों और उनके समर्थकों को हार की कीमत ऐसी न चुकानी पडे जो उनके बूते से बाहर हो। वास्तव में, उनमें यह विश्वास कायम रहना चाहिए कि वे अगले चुनाव में अधिक सफलता पा सकेंगे। इस बात का आश्वासन भी उनको रहना चाहिए कि हारने के बावजूद संगठन करने, आंदोलन करने तथा शासन की आलोचना करने के उनके अधिकार यथावत कायम रहेंगे।

6. लोकतंत्र में संचार-माध्यम महत्वपूर्ण क्यों हैं ?

हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में सरकार अपनी नीतियों के पक्ष में जनता का समर्थन या स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास करती है। बड़ी आबादी तक अपना पक्ष पहुंचाना प्रेस, रेडियो, टेलीविजन आदि द्वारा ही संभव हो सकता है। इसलिए आज के समाज में इन संचार-माध्यमों का महत्व बुनियादी हैसियत रखता है। जहां तक लोकतंत्र का संबंध है, संचार-माध्यम केवल शासन की नीतियों का प्रचार नहीं करते, वे और भी कई काम करते हैं। वे शासन के काम की जांच-पडताल करते हैं, जनता को सूचनाएं उपलब्ध कराते हैं तथा राजनीतिक विचार-विनिमय का साधन बनते हैं। इसके अतिरिक्त, वे शासन तक जनभावना पहुंचाने तथा सार्वजनिक दबाव का माध्यम भी होते हैं।

'लोक प्रहरी' के रूप में पत्रकार

प्रत्येक शासन अपने कार्य को गुप्त रखने की चेष्टा करता है। शासन का जनसंपर्क

सयंत्र भी बहुत सशक्त होता है। ऐसी स्थिति में, संचार-माध्यमों द्वारा जांच-पड़ताल और सूचना-प्रसार का महत्व बहुत अधिक हो जाता है। शासन को जनता के समक्ष उत्तरदायी तभी बनाया जा सकता है जब जनता को मालूम हो कि शासन क्या कर रहा है तथा जनता को शासन के दावो को परखने के स्वतंत्र साधन उपलब्ध हों। संचार-माध्यमों को किसी के निजी जीवन में ताकझाक तो नहीं करनी चाहिए परंतु सूचना तथा जनहित की बात सब तक पहुंचाना इनका कर्तव्य है और यह सब ज्ञान प्राप्त करने का जनता को अधिकार है। यदि ऐसा हो तो संचार-माध्यम लोक प्रहरी की भूमिका नहीं निभा सकते।

सार्वजनिक बहस

स्वतंत्र सूचना-समाचार उपलब्ध कराने के अतिरिक्त सचार-माध्यम सार्वजनिक बहस के मच की भूमिका भी अदा करते हैं। सामान्य नागरिक इन माध्यमों के द्वारा मंत्रियो तथा अन्य सार्वजनिक हस्तियों से पूछताछ कर सकते हैं। इस प्रकार, जन-भावनाएं भी शासन तक पहुचाई जाती हैं। इस तरह सारी जनता को बहस में भागीदार बनाकर सचार-माध्यम संसद की जाच-पडताल और विचार-विनिमय की भूमिका के लिए सहायक का काम करते है।

संचार-माध्यमों की स्वतंत्रता

सचार-माध्यम यह बुनियादी लोकतांत्रिक कार्य नभी समुचित रूप से निभा सकते हैं जब इनको पूरी स्वतत्रता प्राप्त हो और इन पर स्वयं शासन का या शक्तिशाली निजी हितो का दबाव न हो। शासन के दबाव को सीमित करने के दो उपाय हैं। एक तो सार्वजनिक धन से चलने वाले संचार-माध्यमों को किसी स्वतंत्र आयोग या विभिन्न नागरिक वर्गो के प्रतिनिधियो के समक्ष उत्तरदायी बनाया जाए। दूसरे, निजी पूंजी पर आधारित माध्यमों के बीच खुली प्रतिस्पर्धा की व्यवस्था हो। शक्तिशाली स्वार्थो के प्रभाव को कम करने के लिए माध्यमों के स्वामित्व का केंद्रीकरण सीमित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी लागू किए जा सकते हैं। परतु इन सभी उपायों के बावजूद इस बात की गारटी नहीं हो सकती कि संचार-माध्यम अपनी लोकतांत्रिक भूमिका निष्पक्ष और प्रभावकारी ढंग से निभाए। यह तो आखिर इसी पर निर्भर रहेगा कि पत्रकार, संपादक तथा प्रस्तुतकर्ता कहां तक स्वतत्र तथा अपने पेशे के प्रति प्रतिबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त, यह इस पर भी निर्भर करेगा कि संचार-माध्यमों की लोकतांत्रिक भूमिका का ज्ञान और अहसास कितना व्यापक है।



सरकार के गोपनीयता बरतने के प्रयासों का प्रतिरोध करने के लिए संचार-माध्यमों की खोजपरक भूमिका आवश्यक है।

7. प्रतिनिधिक लोकतंत्र को उदार लोकतंत्र क्यों कहा जाता है ?

इसका पहला कारण तो यह है कि अधिकाश पश्चिमी राज्य लोकतत्र बनने से पहले उदार राज्य बने। दूसरे शब्दो मे, इससे पहले कि उन देशों मे वयस्क मताधिकार प्रचलित होता अथवा सार्वजनिक राजनीतिक दल विकसित होते, वहा उदार सवैधानिक व्यवस्था स्थापित हुई। ऐसी व्यवस्था के प्रमुख पहलू इस प्रकार थे : सरकार अथवा कार्यपालिका उन कानूनो के अधीन काम करती है जो निर्वाचित ससद पास करती है (अर्थात कानून का शासन), प्रत्येक व्यक्ति को कानूनी प्रक्रिया उपलब्ध होने की पूर्ण गारटी, तथा अभिव्यक्ति, सभा करने और आने-जाने की स्वतंत्रता; ऐसी न्यायपालिका जिसको कानून तथा व्यक्तिगत अधिकारो के सरक्षक के रूप में विधायिका और कार्यपालिका, दोनो से पर्याप्त स्वतत्रता प्राप्त हो। इतिहास गवाह है कि जिन जनतत्रो मे वयस्क मताधिकार के प्रचलन और सार्वजनिक राजनीतिक दलो के विकास से पहले इन उदार संवैधानिक पक्षो ने जडें नही पकडी थी, वे बडे असुरक्षित सिद्ध हुए।

कानून का शासन

अब दूसरे व्यावहारिक कारण पर आते है कि सविधानवाद तथा लोकतत्र का चोली-दामन का साथ कैसे और क्यों है। आधुनिक राज्य में सरकार के हाथों मे विशाल सत्ता रहती है। सरकार कितनी ही लोकप्रिय क्यो न हो, यदि उस पर कानून का वैसा ही अकुश न हो जैसा सब पर है, यदि कानून बनाने के लिए वह निश्चित प्रक्रिया के अनुसार ससद की अनुमति लेने के लिए पाबंद न हो और यदि वह नागरिक स्वाधीनताओ के प्रति आदर भाव न रखती हो, चाहे उनका प्रयोग कभी-कभार कैसा ही अलोकप्रिय क्यो न हो, तो जनता बहुत शीघ्र उस सरकार पर नियत्रण रखने की क्षमता खो बैठेगी। लोकतत्र ऐसी व्यवस्था नही, जो जनता किसी समय जो मागे वह सब दे दे या कम-से-कम समय मे सब मागें पूरी कर दे। लोकतत्र वह व्यवस्था है जो सरकार पर जनता के प्रभाव और नियत्रण को निरतर बनाए रखने के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करती है और ऐसी व्यवस्था के लिए उदार सवैधानिकता के ऊपर बताए पहलुओ का प्रचलन बुनियादी शर्तो मे आता है। कानून का शासन, कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के मध्य अधिकारों का समुचित बटवारा, तथा व्यक्तिगत अधिकारो और स्वतत्रताओं की गारंटी इस व्यवस्था की अनिवार्य शर्ते है।

संविधानवाद तथा लोकतंत्र

'संविधानवाद' का अर्थ है कि उदार राज्य के विभिन्न पहलुओं तथा लोकतंत्र के सभी अंगों का सरक्षण ऐसे लिखित संविधान द्वारा सभव होता है जिसमें नागरिकों के तथा राज्य के विभिन्न अंगो के अधिकारो और कर्तव्यो की स्पष्ट शब्दों मे व्याख्या की गई हो और जिनकी जानकारी सर्वसाधारण को प्राप्त हो। संविधान की विशिष्ट स्थिति इससे प्रकट होती है कि लोक सेवकों को दलीय एवं वर्गीय हितों से ऊपर उठकर संविधान के प्रति वफादार रहने की शपथ ग्रहण करनी पडती है। यह इससे भी प्रकट होता है कि संविधान में संशोधन करने के लिए सुनिश्चित बहुमत अथवा जनसंग्रहों जैसा विशेष कदम उठाना पड़ता है। इसके बावजूद लिखित संविधान उसी सीमा तक सुरक्षित है जहां तक स्वाधीन न्यायपालिका को इसे लागू करने का अधिकार प्राप्त हो और उसमे ऐसा करने का दृढ संकल्प हो, तथा सर्वसाधारण इसकी सुरक्षा के प्रति जागरूक और चौकस हों।

8. क्या उदार लोकतंत्र ही लोकतंत्र का एकमात्र रूप है ?

राज्य की ओर से बिना उदारीकरण की पृष्ठभूमि के लोकतंत्र का निर्माण करने के बीसवीं शताब्दी मे कई प्रयास हुए हैं। ये प्रयास प्रायः एकदलीय शासनों ने किए हैं। सबसे व्यापक प्रयास साम्यवादी व्यवस्थाओ में हुए। इस प्रयास के पक्ष मे सबसे बडी दलील यह थी कि क्रांति से हुए लोकप्रिय लाभों की सुरक्षा के लिए तथा निजी सपत्ति एवं गुटीय हितों के प्रभाव को रोकने के लिए ऐसा करना अनिवार्य है। शासक दल की दो जिम्मेदारियां मानी गयीं। एक ओर तो नीचे से जनता के विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति और दूसरी ओर, ऊपर से शासन की नीति के पक्ष में जनमत बनाना।

उत्तरदायित्व का लोप

इसमें संदेह नहीं कि इस सबके पीछे लोकतांत्रिक प्रेरणा काम कर रही थी यद्यपि आजकल ऐसा कहने का फैशन नहीं रहा। इस व्यवस्था में अभिव्यक्ति और सगठन-निर्माण की स्वतत्रता नहीं थी। अतः केवल वही विचार सामने आते थे और वही सगठन बनाए जा सकते थे जिनकी अनुमति पार्टी के उच्चस्तरीय नेतागण दे देते थे। अतः नीति पर जनता का प्रभाव और लोक सेवकों का जनता के प्रति उत्तरदायित्व बहुत सीमित हो गया। साम्यवादी व्यवस्थाओं की आर्थिक उपलब्धियां तो काफी हैं परंतु साम्यवादी शासन एकाधिकारमूलक था और दमन तथा अवैध कार्रवाइयों के बल पर चलता था। ये शासन पुलिस राज्य की

विशाल व्यवस्था पर ही टिके हुए थे।

एकदलीय शासन

लगभग यही हाल अफ्रीका के उन प्रयासो का हुआ जिनके द्वारा गैर-साम्यवादी आधार पर एकदलीय शासन स्थापित किए गए। वहा भी उद्देश्य सराहनीय ही था। दलील यह थी कि एक दल का शासन होगा तो विभिन्न दलो की प्रतिस्पर्धा से पैदा होने वाला विभाजन नही होगा। जिसका विशेष खतरा उन समाजो में था जिनमे नस्ली विविधता थी। यह भी विचार था कि ऐसे शासन में परंपरागत सहमति के भाव की झलक मिलेगी। 'वफादार विरोधी दल' का विचार उस परंपरा का हिस्सा नही था। इसके अतिरिक्त, चुनाव के समय मतदाताओं के लिए कई प्रत्याशियो मे से अपनी पसद का प्रत्याशी चुनने की व्यवस्था थी और वे अलोकप्रिय मंत्रियों को हटवा सकते थे, यद्यपि यह स्पर्धा दल तथा उसके सहमत कार्यक्रम की सीमा से बाहर नही जा सकती थी। परिणाम फिर वही हुआ। शासक दल से अलग कोई सगठन नही बन सकता था और चुनाव में शासक दल का विरोध संभव नहीं था। इसके परिणामस्वरूप सरकार और नेता स्वच्छद और गैर-उत्तरदायी बन गए। अधिकारो का बटवारा न होने के कारण कानून का शासन नही रहा। संसद नागरिको की रक्षा तथा जनता के प्रति शासन के दायित्व की गारटी के लिए सक्षम नही थी।

उदारवाद तथा लोकतंत्र

इतिहास के इन अनुभवो से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि उदारवाद की बुनियाद के बिना लोकतन्त्र स्थापित करने की कोशिश सफल नही हो सकती। सगठन बनाने की स्वतंत्रता और चुनाव मे खुली प्रतिस्पर्धा के कुछ भी दोष हों, यह निश्चित है कि सरकार पर जनता के प्रभाव तथा नियंत्रण को बनाए रखने के लिए ये अनिवार्य शर्ते है। इसके साथ ही, कानून के शासन तथा अधिकारों के बटवारे के फलस्वरूप शासन पर नियमों का नियत्रण सुनिश्चित हो जाता है। उदार लोकतंत्रीय ढाचे के अतर्गत भी निश्चित रूप से अनेक प्रयोग स्थानिक परिस्थितियो के आधार पर किए जा सकते हैं। परतु यह सोच गलत है कि लोकतंत्र के जो रूप छोटे पैमाने पर कारगर होते है या जो ढाचा पारपरिक समाज मे अनुकूल सिद्ध हुआ हो उसे राज्य के स्तर पर आरोपित करने मे कोई जोखिम नहीं होगा। आधुनिक राज्य एक अपार शक्तियुक्त ढाचा है। आधुनिक युग के आरंभिक काल में निरंकुश राजसत्ता पर सार्वजनिक नियत्रण और उत्तरदायित्व का अकुश लगाने के लिए पश्चिम के उदारवादियो और संविधानवादियों ने जो संघर्ष किए हैं उनसे समकालीन

लोकतंत्रवादी बहुत कुछ सीख सकते हैं।

9. क्या लोकतंत्र के लिए स्वतंत्र बाजार वाली अर्थव्यवस्था अनिवार्य है ?

यह बहुत पेचीदा प्रश्न है। इसका कोई सीधा-स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। एक ओर तो ऐसा दिखाई देता है कि स्वतंत्र विनिमय के आधार पर उत्पादन और वितरण की व्यवस्था लोकतंत्र बनाने में सहयोगी है। लोकतंत्र की तरह बाजार भी हर व्यक्ति को निर्णय की आजादी प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हितो को स्वयं पहचानता है और जो कुछ चुनता है उसकी जिम्मेदारी ओढता है। इसमे उपभोक्ता की प्रभुसत्ता वैसी ही है जैसी लोकतंत्र में मतदाता की। वही दुकान चलती है जिसको उपभोक्ताओं का समर्थन मिलता है जैसे लोकतंत्र में वही राजनीतिक दल सफल होता है जिसे मतदाताओ का समर्थन मिले। इसके अलावा, बाजार आर्थिक निर्णय के अधिकार का विकेद्रीकरण करता है, तथा नागरिक समाज के बीच अवसर, सूचना एव ससाधनों का प्रकीर्णन करता है। इससे राज्य की सत्ता सीमित हो जाती है। परिणाम यह होता है कि सर्वसाधारण अपनी आर्थिक नियतियों के लिए राज्य के आभारी नहीं रहते न वे किसी प्रकार के स्वतत्र राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कार्यकलाप के लिए राजकीय वित्त पर निर्भर रहते है। इन सब दृष्टियो से, बाजार को लोकतत्र का पोषक माना जा सकता है।

बाजार की हानियां

इसके विपरीत, यदि बाजार को निरकुश छोड़ दिया जाए तो उत्पादन में उतार-चढाव का दौर चलता है जिससे घोर आर्थिक कठिनाई और उथल-पुथल का सामना करना पड़ता है। देश पर कीमतो और व्यापार के अतर्राष्ट्रीय उतार-चढाव का दुष्प्रभाव पडता है और आर्थिक नीति की स्वायत्तता प्रभावित होती है। देश के अदर अर्थव्यवस्था चलाने वालों के बीच क्षमता और संसाधनों के आधार पर असमानता बढ़ जाती है। उसका प्रभाव राजनीतिक समानता पर पड़ता है जो लोकतंत्र का तकाजा है। श्रमिको का श्रम अन्य वस्तुओ की तरह वस्तु बन जाता है जो पूर्ति और माग के नियम के अधीन होती हैं। जब आवश्यकता न हो तो निकाल बाहर करो। यह व्यवस्था व्यक्ति की नागरिक हैसियत के मूल्य के प्रतिकूल पड़ती है। इसीलिए पश्चिमी देशो में उद्योग फैलने लगा तो यह लगा कि स्वतत्र बाजार और लोकतंत्रीय अधिकार आपस मे मेल नहीं खाते। 19वीं शताब्दी में इसका व्यापक विरोध होता रहा। बाद मे यह भी देखा गया कि निर्बाध बाजार व्यवस्था को चलाने के लिए निरकुश अधिकारवादी प्रशासन की आवश्यकता पड़ी ताकि सार्वजनिक

विरोध को काबू में रखा जा सके। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात पश्चिमी सरकारो ने बाजार की अर्थव्यवस्था और लोकतत्र मे अनुकूलता पैदा करने के लिए बाजारो पर काफी पाबंदिया लगाई और राजकीय हस्तक्षेप शुरू किया। आर्थिक पुनर्वितरण की नीतियां बनाई गई और बाजार के उतार-चढाव से गरीब लोगों की रक्षा के लिए कल्याणकारी अधिकारों पर आधारित व्यवस्था बनाई गई।

अस्पष्ट संबंध

जो लोग निर्बाध अर्थव्यवस्था की सरलता से आकर्षित हैं उनको बाजार तत्र तथा लोकतत्र के संबध के इन अस्पष्ट पहलुओ की ओर भी ध्यान देना चाहिए। साथ ही, समाजवाद मे केद्र निर्मित योजना पर आधारित अर्थव्यवस्थाओं के सचालन के लिए एक निरकुश दफ्तरशाही की अपेक्षा थी जिससे समाज की सारी ऊर्जा और पहल राज्य के कब्जे में चली गई। विशाल राजनीतिक विषमताए और विशेषाधिकार पैदा हो गए। ये सब बातें लोकतंत्र से मेल नही खाती। बाजार अर्थव्यवस्था के अतर्गत सामाजिक स्वामित्व वाले उद्यमों का विकेद्रीकृत तत्र क्या आर्थिक दृष्टि से सफल और बहुदलीय लोकतंत्र के अनुकूल सिद्ध होगा ? इस प्रश्न का उत्तर अभी नहीं मिल पाया है। लोकतत्रीय समाजवाद का एक वही रूप आज तक व्यावहारिक सिद्ध हुआ है जो पश्चिमी तथा उत्तरी यूरोप के देशो में 1945 के बाद अपनाया गया। और वह रूप पूजीवाद का ही संशोधित रूप है, उसका विकल्प नही।

10. क्या बहुमत का हर निर्णय लोकतांत्रिक होता है ?

प्राय. यह भ्रम पाया जाता है कि लोकतत्र का अर्थ है बहुमत द्वारा शासन। लोकतंत्र के शाब्दिक अर्थ को लें तो यह लोगो का शासन है। इसका अभिप्राय है सभी लोगों का शासन। यह नहीं कि जनता का एक भाग दूसरे पर शासन करे। दूसरे शब्दों मे, लोकतंत्र का प्रमुख लक्षण यह है कि निर्णय करने का अधिकार सबको बराबर हो। बहुमत द्वारा निर्णय केवल एक क्रियाविधि है जो तब अपनाई जाती हैं जब मतभेद दूर करने की अन्य विधियां (विचार-विमर्श, सशोधन, समझौता) कारगर न हों। यह अलबत्ता सही है कि बहुमत का निर्णय अधिक लोकतांत्रिक है मुकाबले इसके कि अल्पमत निर्णायक हो अथवा अल्पमत बहुमत के निर्णय मे अवरोध पैदा करे। परतु बहुमत के ऐसे निर्णय के फलस्वरूप अल्पमत सर्वथा अशक्त होकर रह जाता है और अंतिम निष्कर्ष पर उसका कुछ प्रभाव नहीं रहता। इसलिए इसको निर्णय करने की कामचलाऊ विधि तो कहा जा सकता है, उत्कृष्ट लोकतांत्रिक पद्धति नहीं माना जा सकता।

परस्परता का सिद्धांत

बहुमत द्वारा शासन के पक्षधर कहते हैं कि जो लोग एक समय अल्पमत में हैं वे दूसरे अवसर पर बहुमत में हो सकते हैं। यदि एक निर्णय अथवा एक चुनाव में वह प्रभावकारी नहीं होते तो दूसरे में 'सफल' हो सकते हैं और इस प्रकार उसकी भरपाई हो जाती है। दूसरे शब्दों में, बहुमत के दृष्टिकोण के प्रति अल्पमत की सहमति परस्परता पर आधारित है। उनके भी बहुमत में होने की बारी आएगी तो दूसरों को उनके विचार का वैसा ही आदर करना पड़ेगा जैसा इन्होंने किया है। परंतु अनुपूरकता का सिद्धांत अर्थहीन हो जाता है यदि बहुमत का निर्णय अल्पमत वालों को अपने विचार के पक्ष में मत बनाने की क्षमता से ही वंचित कर दे या फिर अल्पमत स्वयं ही 'स्थायी' हो या फिर मुद्दा ऐसा हो जिस पर हारने की भरपाई किसी भावी जीत से न हो सके। इनमें से हर बात पर अलग से विचार करने की जरूरत है।

बहुमत और व्यक्तिगत अधिकार

यदि बहुमत (अथवा बहुमत के समर्थन से चलने वाली सरकार) के निर्णय से किसी व्यक्ति या समूह के बुनियादी लोकतांत्रिक अधिकारो का उल्लघन होता हो तो उसे मूलतया अलोकतांत्रिक ही माना जाएगा। यह बुनियादी अधिकार वह है, जो राजनीतिक जीवन में योगदान के लिए अनिवार्य है। जैसे अभिव्यक्ति, आवागमन तथा संगठन की स्वतंत्रताएं या मतदान तथा सार्वजनिक पद के लिए चुनाव मे खडे होने का अधिकार। सभी नागरिकों के लिए इन अधिकारों की गारंटी लोकतांत्रिक व्यवस्था की बुनियाद है। आदर्श स्थिति तो वह होगी जहां संविधान अथवा अधिकार-पत्र में इनके विशेष संरक्षण की व्यवस्था हो और बहुमत उन अधिकारों का उल्लंघन न कर सके। उन अधिकारों को निलंबित या सीमित करना किन परिस्थितियों में उचित कहा जा सकता है, यह एक जटिल प्रश्न है। इस पर चर्चा आगे चलकर की जाएगी। (देखिए प्रश्न 59-61)

स्थायी अल्पमत

पारस्परिकता का सिद्धांत वहां काम नहीं करता जहां अल्पमत 'स्थायी' हो जैसे, जाति, धर्म, भाषा, नस्ल अथवा ऐसे ही किसी स्थायी लक्षण के कारण उत्पन्न अल्पमत। यदि दलगत प्रतिस्पर्धा की व्यवस्था इस प्रकार के समुदायों के आधार पर ही चल रही हो, उनसे ऊपर न हो तो अल्पमत स्थायी रूप से शासकीय पदों तथा राजनीतिक प्रभाव से वंचित किया जा सकता है। ऐसा अल्पमत समूह स्थायी

रूप से बहुमत के अधीन न हो, इसके लिए विभिन्न संवैधानिक उपाय उपलब्ध हैं। सत्ता मे भागीदारी की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है जिसमे अल्पमत के लिए उनकी संख्या के अनुपात से शासन में तथा सार्वजनिक पदो में स्थान सुरक्षित हो सकें। उनको ऐसे कानूनों को वीटो करने का अधिकार दिया जा सके जिनके कारण उनके मार्मिक हितों को खतरा पैदा होता हो। या फिर अल्पमत वालों के उनसे संबंधित विशेष विषयों पर निर्णय की पर्याप्त स्वायत्तता दे दी जाए। विधि कोई भी हो, अपनी संस्कृति के अनुसार व्यवहार का अधिकार अब मूल मानव अधिकार माना जाता है जिसकी संवैधानिक सुरक्षा करना आवश्यक है। (देखिए प्रश्न 63)

गहन अल्पमत

अंतिम प्रश्न है 'गहन' अल्पमत का। किसी समूह की दृष्टि में कोई विषय विशेष इतना महत्वपूर्ण हो सकता है कि उस पर बहुमत के सामने पराजय स्वीकार करने की भरपाई किसी अन्य अवसर अथवा अन्य विषय पर विजय पाने से नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थितियो के लिए कोई वैधानिक व्यवस्था नही की जा सकती। परंतु बुद्धिशील बहुमत की चेष्टा यही होगी कि अल्पमत की इच्छा को सर्वथा नकारने के बजाय उसको यथासंभव आंशिक रूप मे मान लिया जाए। लोकतंत्र तभी चल सकता है जब लोग निरतर साथ साथ रहने को तैयार हों। इसके लिए जरूरी है कि बहुमत वाले तथा उनका प्रतिनिधित्व करने वाले शासन आत्मसयम से काम लें और हमेशा बहुमत की कार्यविधि के प्रयोग द्वारा सब-कुछ अपने तथा अपने दृष्टिकोण के पक्ष में निर्णीत करने की चेष्टा न करें।

11. क्या लोकतंत्र में किसी व्यक्ति द्वारा कानून की अवज्ञा विधिसंगत मानी जा सकती है ?

लोकतंत्र के इतिहास में सिविल (सविनय) अवज्ञा का बहुत ऊंचा स्थान है। कानून की यह अवज्ञा किसी महत्वपूर्ण सिद्धांत या मार्मिक हित की रक्षा के लिए सार्वजनिक तथा अहिसक रूप में की जाती है। यह अपराधपूर्ण अवज्ञा से भिन्न इस अर्थ में है कि यह खुलेआम की जाती है और इसका उद्देश्य राजनीतिक होता है तथा अवज्ञा करने वाले इसके फलस्वरूप होने वाली गिरफ्तारी या दंड से बचने की कोशिश नहीं करते। इसका मंतव्य प्रायः लोक प्राधिकारियो या शक्तिशाली निजी संस्थाओं द्वारा किए गए अन्याय या दुर्व्यवहार की ओर ध्यान आकर्षित करना होता है ताकि उससे संबंधित नीति पर पुनर्विचार करवाया जा सके। यह मार्ग उस दशा में अपनाया जाता है जब प्रचार तथा अनुनय-विनय के अन्य साधन बेकार

साबित हो चुके हों। कभी कभी यह सामूहिक विरोध का रूप लेकर अमान्य नीति को कार्यरूप में नहीं आने देती। परंतु यह पारस्परिकता के सिद्धांत के विपरीत है जो कि लोकतंत्र का आधार है। इसलिए इसका सहारा असाधारण परिस्थितियों में ही लिया जाना चाहिए और वह भी तब जब कोई दूसरा चारा न हो।

कानून की अखंडता

सविनय अवज्ञा के आलोचक तर्क देते हैं कि कानून की अवज्ञा को कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। कानून सभ्य समाज की आधारशिला है। यदि एक व्यक्ति या समूह इसकी अनदेखी करेगा तो दूसरों को भी ऐसा करने का प्रोत्साहन मिलेगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति चुनने लगे कि वह कौन-सा कानून मानेगा और कौन-सा नहीं तो कानून का वह ढाचा बिखर जाएगा जिसका सहारा हम सब लेते हैं। और फिर लोकतंत्र में संवैधानिक रास्ते खुले हैं जिनके द्वारा कानून बदले जा सकते है। चुनाव में मतदान का रास्ता है, प्रतिनिधियो को प्रभावित किया जा सकता है। अमान्य कानून या नीति को बदलने के लिए कानून के अंतर्गत आंदोलन द्वारा नागरिकों तथा प्रशासन को प्रभावित किया जा सकता है। चुनाव की प्रक्रिया मे भाग लेने का अर्थ ही यह है कि आप उसके परिणाम को मान्यता देगे और जीतने वाला पक्ष जिन नीतियो के आधार पर खडा था, उनके अनुकूल चलने को तैयार है। इस प्रकार सविनय अवज्ञा लोकतंत्र तथा कानून के शासन के प्रतिकूल कार्रवाई है।

कानून और न्याय

जो लोग सविनय अवज्ञा के अधिकार के पक्षधर हैं उनका कहना है कि चुनाव परिणाम को मान्यता देने का अर्थ यह तो नहीं कि व्यक्ति शासन के हर कानून को माने और हर नीति के साथ सहयोग करे, चाहे वह कैसी भी अन्याययुक्त क्यो न हो। ऐसी भी परिस्थिति होती है कि आंदोलन और प्रतिरोध का सवैधानिक उपाय बहुत विलंबकारी है और इस बीच जो हानि हो जाएगी, उसका प्रतिकार नहीं जा सकेगा। व्यवहार में तो देखा जाता है कि सामान्य लोगो की आवाज शासन तथा शक्तिशाली निहित स्वार्थो के प्रचार के नीचे दब जाती है। इस दृष्टि से देखें तो सविनय अवज्ञा विरोध को नाटकीय ढग से सामने लाकर लोकतंत्र व्यवस्था के लिए सहायक और समर्थक ही सिद्ध होती है, इसकी विरोधी नहीं। कुछ भी हो, उचित-अनुचित का अंतिम निर्णय व्यक्ति की अंतरात्मा पर ही छोडना होगा। यदि अन्यायपूर्ण कानून चलते रहें तो चुप्पी साधने वाले उसकी जिम्मेदारी से बच नहीं सकते। इतिहास गवाह है कि दमनकारी कानूनों को चुपचाप स्वीकार करने से हानि

अधिक होती है बजाय उनकी सिद्धांतपरक अवज्ञा करने के।

व्यक्तिगत अंतरात्मा

ये मतभेद सामान्य विचार द्वारा नही सुलझाए जा सकते। बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि परिस्थितिया वास्तव मे क्या थीं। यह आंकना होगा कि कौन-से सिद्धातों का टकराव है और उनमें से प्रत्येक आचरण का क्या परिणाम हो सकता है। अंततः प्रत्येक व्यक्ति को अपना निर्णय स्वयं लेना होगा। एक क्षेत्र तो ऐसा है जिसमें व्यक्ति की अतरात्मा की महत्ता अब सरकारी तौर पर भी मान्य हो गई है और वह है अतरात्मा की आवाज पर सैनिक सेवा से विरोध। बहुत से राज्यों मे इसके विकल्प के रूप में अन्य सेवाओ की व्यवस्था कर दी गई है और इस प्रकार इस विरोध की नैतिकता को मान लिया गया है।

12. क्या राष्ट्रवाद और लोकतंत्र में कोई परस्पर संबंध है ?

प्राय कहा जाता है कि समकालीन ससार मे राष्ट्रवाद और लोकतत्र की विचारधाराओं मे प्रतिस्पर्धा चल रही है। ऐसा कहने वाले भूल जाते है कि दोनों का ऐतिहासिक और वैचारिक मूल स्रोत एक ही है अर्थात फ्रास की क्रांति का वह सिद्धांत कि समस्त राजनीतिक सत्ता का उद्भव सर्वसाधारण से होता है। राष्ट्रवादी मानते हैं कि प्रत्येक समाज को अपने राज्य मे स्वायत्तता मिलनी चाहिए। यह मान्यता लोकतत्र के सिद्धांत से मिलती-जुलती है जिसके अनुसार किसी देश के लोगों को अपने मामलों पर आत्मनिर्णय का हक होना चाहिए। यदि शासन समाज के हाथो मे होना है तो राजनीतिक प्रश्न यह बन जाता है कि समाज क्या है और उसके घटक कौन है।

राष्ट्रवाद और अनन्यता

लेकिन, बात यहीं समाप्त नही होती। लोकतत्र तो एक सार्वभौम सिद्धात है। यह इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक मानव आत्मनिर्णय की क्षमता रखता है और यह क्षमता विविधता के बावजूद सबमें एक जैसी होती है। दूसरी ओर, राष्ट्रवाद विशिष्टतापरक है और विभिन्न समाजो की भिन्नता को उजागर करता है और राष्ट्र की विशेष सस्कृति, परपरा और जीवन-पद्धति के महत्व पर बल देता है। यदि राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति विशिष्टतापरक है तो लोकतत्र का झुकाव व्यापकतापरक है। यह विशिष्टतापरक प्रवृत्ति भयंकर लोकतत्रविरोधी रूप तब ले लेती है जब किसी

क्षेत्र विशेष के निवासियों को नागरिक अधिकारों से केवल इस आधार पर वंचित किया जाता है कि भाषा, धर्म अथवा जाति मूल की दृष्टि से वह सबसे बड़े बहुसंख्यक समूह से भिन्न है। यदि सभी राज्यों के सभी निवासी समरूप होते तो कोई समस्या ही न होती। परंतु ऐसा नहीं है। शताब्दियों से चली आ रही स्थानांतरण तथा क्षेत्र-विजय की प्रक्रिया के फलस्वरूप दुनिया भर के लोग इस प्रकार घुलमिल गए हैं कि किसी राष्ट्र-राज्य में किसी एक ही नस्ल या समूह के निवासी हों, ऐसी कल्पना भी असंभव है।

राष्ट्रवाद और लोकतांत्रिक अधिकार

स्वायत्तता या आत्मनिर्णय की राष्ट्रीय मांग को तो लोकतंत्र के सिद्धांत के अनुकूल माना जा सकता है परंतु राज्य के किसी निवासी-समूह को राजनीतिक अधिकारों से वंचित करना या अल्पसंख्यकों को स्वायत्तता न देना लोकतंत्र विरोधी ही माना जाएगा। इस प्रकार के व्यवहार से राष्ट्र के अंतर्गत और विभिन्न राष्ट्रों के बीच शांति भंग का खतरा बना रहता है। इसलिए ऐसी नीतियों को किसी राष्ट्र की ऐसी आंतरिक समस्या नहीं माना जा सकता जिसका समाधान अकेले उस देश पर छोड़ा जा सके। अब यह माना जाता है कि बुनियादी राजनीतिक अधिकार सामान्य मानवाधिकारों का हिस्सा हैं और उनको पाने की आकांक्षा और हक समस्त मानव समाज को है। यदि उन अधिकारों से किसी को वंचित रखा जाता है तो यह समस्त अंतर्राष्ट्रीय समाज के लिए चिंता का विषय है। अतः जहां और जब उचित समझा जाए तो इसका दंड नाकेबंदी के रूप में किया जाना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रवाद और जातिगत विशिष्टता उसी रूप मे उचित समझे जा सकते हैं जब यह मानवीय क्षमता और समानता के अनुकूल हो। उनका विरोध करने वाला राष्ट्रवाद या जातीयता उचित नहीं।

13. क्या किसी भी देश में लोकतांत्रिक शासन की स्थापना की जा सकती है ?

19वीं शताब्दी के उदारवादी दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल का विचार था कि लोकतांत्रिक शासन सभ्यता के विकसित स्तर तक पहुंचने पर ही संभव है। उनका विश्वास था कि पश्चिम से बाहर के देश स्वशासन के योग्य नहीं। वहां केवल परोपकारी तानाशाही काम कर सकती है। इससे भी उत्तम पश्चिम का शासन होगा। इस प्रकार की नस्लवादी विचारधारा उस समय के ऊंचे दर्जे के प्रबुद्ध विचारकों में भी पाई जाती थी। आबादी शिक्षित हो तो लोकतंत्र में सहायक अवश्य

होती है क्योंकि ऐसी अवस्था मे शासक और शासित के बीच की खाई कम गहरी होती है। परंतु इस बात का कोई प्रमाण नही कि औपचारिक शिक्षा के बिना लोगों में अपने को छूने वाले विषयों को समझने और उन पर बहस करने की क्षमता नहीं होती या ऐसे लोग इन विषयों की जिम्मेदारी ओढ़ने के योग्य नहीं।

जन-आंदोलन

इतिहास बताता है कि बिना विशाल जन-सघर्ष और जन-संग्रह के लोकतंत्र शायद ही कभी स्थापित हो पाता है। कई बार यह संघर्ष लंबे समय तक चलता है और संघर्ष करने वालों को काफी कुर्बानी देनी पडती है। सर्वसाधारण को समझाना पडता है कि उनकी आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए लोकतंत्रीय शासन कितना जरूरी है और ऐसे शासन की माग करने के लिए उन्हे संगठित होना चाहिए। पारंपरिक शासक, सैनिक तानाशाह, साम्यवादी तंत्र-चालक (आपराचिक), आजीवन राष्ट्रपति, विदेशी उपनिवेशकारी कभी स्वेच्छा से सत्ता नहीं छोडते। वे सत्ता तभी छोड़ते हैं जब उनका शासन बहुत बदनाम हो जाए और उभरते हुए जन-आंदोलन से उनको विश्वास हो जाए कि सत्ता मे बने रहने से अव्यवस्था और बढेगी तथा शासन चलाना असभव हो जाएगा।

अंतर्राष्ट्रीय समर्थन

लोकतत्रीय शक्तियों की विजय तथा लोकतांत्रिक संविधान प्राप्त करने में अन्य लोकतत्र निश्चय ही समर्थन प्रदान कर सकते है। परंतु जब शीत युद्ध चल रहा था तब पश्चिमी लोकतंत्र साम्यवाद के फैलाव को रोकने मे अधिक दिलचस्पी रखते थे। उस उद्देश्य से उन्होंने बहुत-से ऐसे शासनो को भी स्थायित्व दिया जो अत्यधिक अलोकतांत्रिक थे। शीत युद्ध की समाप्ति के उपरात अतर्राष्ट्रीय गतिविधि का झुकाव निश्चित रूप से लोकतांत्रिक आदोलनों और शासनों के पक्ष मे हो गया है। यह समर्थन बहुत महत्वपूर्ण है परंतु यह अधिनायकवादी शासन के विरुद्ध जनता के अपने संघर्ष का विकल्प नहीं हो सकता। स्वराज या स्वशासन का बाहर से थोपा जाना अपने आप में एक विरोधाभास है। ऐसा शासन टिकाऊ भी नहीं होता।

14. एक बार लोकतंत्र बन जाए तो उसे स्थिर कैसे बनाया जा सकता है ?

इसका कोई सीधा-सादा उपाय नहीं है। पश्चिमी लोकतंत्र लंबे समय के संघर्ष के बाद स्थिर हुए। इस बीच समय समय पर लोकतंत्र को अभिजात वर्ग की प्रतिक्रिया,

सैनिक अधिनायकों अथवा फासीवाद के सामने पराजित होना पडा। अभी हाल में जो लोकतंत्र स्थापित हुए है उनके स्थायित्व के लिए परिस्थितिया बहुत अनुकूल नही हैं। सामाजिक भेद इतने गहरे सिद्ध हो सकते हैं कि वे स्वतत्र राजनीतिक व्यवस्था मे समाविष्ट न किए जा सके। यह भी हो सकता है कि सेना अत्यधिक शक्तिशाली सिद्ध हो और गैर राजनीतिक भूमिका के लिए तैयार न हो।

लोकतांत्रिक दृढ़ीकरण

यह सोचना भी गलत है कि सर्वसाधारण मे प्रतिकूल परिस्थितियो का मुकाबला करने की क्षमता का अभाव होता है। ऐसे कदम उठाए जा सकते हैं जिनके फलस्वरूप लोकतांत्रिक सस्थाओ में अनिवार्य दबावो का मुकाबला करने की शक्ति और योग्यता पैदा हो जाए। उदाहरणतया बहुत कुछ राज्य में प्रमुख स्थान ग्रहण करने वाले वृत्तिक कर्मचारियों की गुणवत्ता तथा प्रशिक्षण पर निभर करता है, विशेषकर न्यायपालिका एव सवैधानिक वकीलो, संसद के अधिकारियों, चुनाव अधिकारियों तथा प्रशासनिक सेवाओ के कर्मचारियो की क्षमता पर। राजनीतिक दल संगठित करने होंगे तथा उनके कार्यकर्ताओ के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। संचार माध्यम, व्यापारिक प्रतिष्ठान, ट्रेड यूनियन तथा अन्य गैर-प्रशासनिक संस्थाए नागरिक समाज के प्रमुख संस्थान है। इनको इस योग्य बनना होगा कि वे राज्य के प्रभाव से अलग रहकर स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकें। बहुत कुछ इस पर भी निर्भर है कि बडे राजनीतिक नेताओ में कितनी क्षमता और ईमानदारी है। उनमें लोकतांत्रिक तथा संवैधानिक राजनीति के प्रति कितनी प्रतिबद्धता है, तुरंत सामने खडी समस्याओं को सुलझाकर सत्ता में बने रहने की कितनी लगन है।

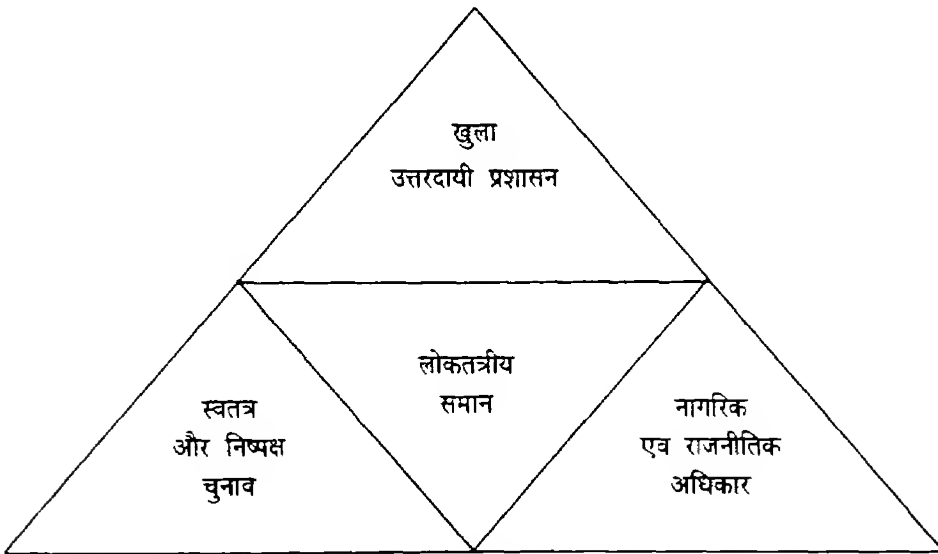
दोहरा संघर्ष

लोकतंत्र को स्थिर रखने के लिए एक साथ दो मोर्चो पर संघर्ष करना होता है। एक ओर उन लोकतंत्रविरोधी शक्तियों से संघर्ष करना होता है जिनको स्वतंत्र संस्थाएं कभी मान्य नहीं होतीं और जो राजनीतिक प्रक्रिया पर सामान्य जन के प्रभाव को पसंद नहीं करतीं। दूसरी ओर, लोकतंत्रीय राजनीति में निहित विघटनकारी प्रवृत्तियों से भी लोहा लेना पड़ता है। जैसे प्रशासनिक पदो के लिए होड़ और राजनीति के खेल में जीतने वालों में सब कुछ समेट लेने की लालसा से ज़न्मे विकार। पहले संघर्ष का परिणाम तो इससे निश्चित होता है कि लोकतंत्र के स्थायित्व के पक्षधर संस्थान और समूह कितने व्यापक हैं और वह इसकी सुरक्षा के लिए कितने प्रतिबद्ध हैं। दूसरे संघर्ष मे सफलता तब होगी जब सत्ता के प्रयोग में संयम से काम लिया जाएगा और विरोधियों के साथ विचार-विनिमय का द्वार

खुला रखा जाएगा। इसके अतिरिक्त इस पर भी निर्भर होगा कि सामान्य जन दूसरों के राजनीतिक अधिकारो का आदर कहां तक करते हैं।

15. कारगर लोकतंत्र के प्रमुख घटक क्या क्या हैं ?

कारगर लोकतंत्र के चार प्रमुख घटक या निर्माण-खंड हैं। पहला, स्वतत्र और निष्पक्ष चुनाव; दूसरा, खुला और उत्तरदायी शासन; तीसरा, नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार; और चौथा, एक लोकतंत्रीय अथवा सिविल समाज। पिछले प्रश्नों का उत्तर देते हुए इन सभी का उल्लेख आया है। अब हम इनका व्यवस्थित वर्णन करेंगे क्योंकि आगे आने वाले प्रश्न इनकी पृष्ठभूमि मे ही समझे जा सकते हैं। इस पृष्ठभूमि को आरेखित किया जाए तो 'लोकतत्र का पिरामिड' बन जाता है जिसका प्रत्येक खड पिरामिड की सपूर्णता के लिए अनिवार्य है।



चित्र 1 लोकतत्रीय पिरामिड

स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव

चुनावी प्रतिस्पर्धा ही एक प्रमुख युक्ति है जिससे लोक सेवकों को उत्तरदायी बनाया जाता है और उन पर सामान्य लोगो का नियंत्रण बना रहता है। चुनाव के क्षेत्र में ही पद-प्राप्ति के अधिकार तथा वोट की महत्ता के रूप में नागरिक समानता का प्रदर्शन होता है। 'स्वतंत्र' तथा 'निष्पक्ष चुनाव' की पहली कसौटी तो चुनाव व्यवस्था ही है। चुनाव व्यवस्था का अर्थ है वे नियम जो यह निर्धारित करते हैं कि किन पदों के लिए चुनाव होगा, उनके लिए कौन प्रत्याशी हो सकते हैं, चुनाव

कब होंगे, वोट कौन दे सकते हैं, चुनाव-क्षेत्र कैसे निर्धारित होंगे, विजयी घोषित करने के लिए वोटों की गणना कैसे होगी, आदि। इसकी दूसरी कसौटी है चुनाव की प्रक्रिया अर्थात व्यवहार में चुनाव किस प्रकार करवाए जाते हैं। मतदाताओ के पंजीकरण से लेकर चुनाव अभियान, मत गणना तक किस विधि से यह सुनिश्चित किया जाता है कि कानून का पूरी तरह और बिना भेदभाव के पालन हो और कोई ऐसा भ्रष्टाचार न हो जिसके कारण चुनाव परिणाम संदेह के घेरे में आ जाएं।

खुला और उत्तरदायी शासन

लोकतंत्र मे उत्तरदायित्व दो प्रकार का होता है। एक तो विधिपरक अर्थात लोक सेवक न्यायपालिका के सामने कानून के अनुसार व्यवहार के लिए उत्तरदायी होते हैं। इसे कानून का शासन कहा जाता है। दूसरे राजनीतिक उत्तरदायित्व है अर्थात संसद तथा सामान्य जनता के सामने शासन की नीतियों तथा कार्यो का औचित्य प्रमाणित करने की प्रतिबद्धता। यह उत्तरदायित्व दो बातों पर निर्भर करता है। एक तो इस पर कि न्यायालय प्रशासन से कितने मुक्त हैं, उनको संविधान की सुरक्षा, अपराध निर्धारण तथा दड देने का अधिकार कहां तक प्राप्त है। दूसरे संसद की क्षमता पर अर्थात संसद को विधान बनाने, कर लगाने तथा प्रशासन पर चौकसी का कहा तक अधिकार है। लोकतंत्रीय शासन को उत्तरदायी होने के अलावा संवेदनशील भी होना चाहिए। इसे औपचारिक विचार-विमर्श के साथ साथ जनमानस की अभिव्यक्ति की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य है।

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार वे स्वतत्रताएं हैं जो राजनीतिक जीवन चलाने (अर्थात सिविल समाज के अंतर्गत संगठन निर्माण करने अथवा प्रशासन को, प्रभावित करने) की बुनियादी शर्ते हैं। इन अधिकारों में अभिव्यक्ति, संगठन निर्माण तथा आंदोलन करने आदि के अधिकार शामिल हैं। ये अधिकार मानव अधिकारों के अंग स्वरूप व्यक्तिगत तौर पर तो निश्चित कर ही दिए जाते हैं परंतु इनका महत्व तब बनता है जब इनका उपयोग सामूहिक रूप से किया जाए—साझे उद्देश्य के लिए अन्य लोगों के साथ मिलकर अभियान चलाने, जनमानस को प्रभावित करने आदि के रूप में। यह सोचना गलत है कि व्यक्तिगत अधिकार अनिवार्यतया सामूहिक उद्देश्यों या सामूहिक निर्णय की प्रक्रिया तथा सार्वजनिक नियत्रण की प्रक्रिया के प्रतिकूल पड़ते हैं। वास्तव में ये प्रक्रियाएं इन अधिकारों की बुनियाद पर ही खड़ी हैं।

लोकतांत्रिक अथवा 'सिविल' समाज

'सिविल' समाज का अभिप्राय यह है कि लोकतंत्र के लिए कई प्रकार की सामाजिक संस्थाओ की आवश्यकता होती है जो शासन से अलग स्वतत्र रूप से संगठित होती हैं। इन्ही के द्वारा शासन की शक्ति पर अंकुश रहता है। यही ऊपर से विचार थोपने की बजाय नीचे से जनमानस की अभिव्यक्ति करती है। इन्हीं के कारण समाज मे मनमाने शासन का विरोध करने के लिए आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। यह सिद्धात रूप से माना जाता है कि ये सस्थाए केवल स्वतंत्र ही न हों बल्कि अपने आप भी लोकतांत्रिक रूप से चलें। यह सिद्धात इस विचार पर आधारित है कि लोकतंत्र की जडे कमजोर रहेगी, यदि समाज का व्यवहार निरकुश होगा। यदि परिवार, विद्यालय तथा धर्मस्थलो मे अधिनायकतापूर्ण व्यवहार की आदत बनेगी और यदि लोगो को अपने कार्यस्थल, पडोस तथा स्वयंसेवी संस्थाओ मे स्वयं संगठित होने या सामूहिक निर्णय करने का अनुभव नही होगा तो उनके सक्रिय नागरिक सिद्ध होने की सभावना कम रहेगी। वह अपने आपको समाज की स्थिति या दशा के लिए उत्तरदायी महसूस नहीं करेंगे।

2

स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव

16. चुनाव कराने का क्या महत्व है ?

राष्ट्रीय स्तर पर चुनाव दो उद्देश्यो से कराए जाते हैं। एक तो इससे यह निर्णय होता है कि शासन का मुखिया या मुख्य प्रशासक कौन होगा तथा आने वाला शासन मोटे तौर पर क्या नीतियां अपनाएगा। दूसरे, इस प्रक्रिया द्वारा प्रतिनिधि सभा, विधान सभा अथवा ससद के सदस्यों का चुनाव होता है जो विधान निर्माण एवं कर लगाने के बारे मे निर्णय लेती है तथा सामान्य जनता की ओर से प्रशासन के कार्य की जाच-पडताल करती है। जहा राष्ट्रपति प्रणाली प्रचलित है और राष्ट्रपति ही शासन का मुखिया होता है वहा ये दो उद्देश्य अलग अलग रहते है। अतः राष्ट्रपति तथा विधायको के चुनाव एक साथ नहीं कराए जाते। यह दोनों चुनाव एक ही समय पर भी कराए जा सकते हैं और अलग अलग समय पर भी। प्रधानमत्री आधारित अथवा संसदीय प्रणाली के अतर्गत एक ही चुनाव से दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं, क्योकि ससद के चुने हुए सदस्य ही निर्णय करेगे कि शासन का मुखिया कौन हो। यह निर्णय इस आधार पर किया जाता है कि किस दल का नेता संसद मे बहुमत प्राप्त कर सकता है।

चुनाव तथा सार्वजनिक नियंत्रण

प्रतिनिधिक लोकतंत्र में इन लोक सेवको का खुला प्रतिस्पर्धात्मक चुनाव ही सार्वजनिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। चुनाव दर्शाते है कि राजनीतिक सत्ता का आधार सर्वसाधारण जनता है और सत्ता उसी की अमानत है। राजनीतिक नेता जो भी काम करते हैं उसके लिए उन्हें जनता के सामने उत्तरदायी होना पडेगा। आखिर पद छिन जाने की संभावना ही उनको मजबूर करती है कि वे अमानत के लिए भरोसेमंद साबित हों और लोक पद की मर्यादा बनाए रखें। इससे यह आश्वासन

भी होता है कि परिस्थितियो के बदलने से आवश्यकतानुसार व्यक्तियो और नीतियो मे भी तब्दीली हो जाएगी।

17. क्या राज्य के अध्यक्ष का चुनाव भी सार्वजनिक होना चाहिए ?

राज्य के अध्यक्ष का पद प्राय औपचारिक एवं प्रतीकात्मक होना चाहिए। इससे दलगत प्रतिस्पर्धा से ऊपर राष्ट्र की एकता, शासन की परिवर्तनशीलता के ऊपर राज्य की निरतरता, विधान विशेष के अस्थायित्व से ऊपर सविधान का स्थायित्व परिलक्षित होता है। राष्ट्रीय सकट या सवैधानिक विवाद की स्थिति मे इस प्रतीकात्मक पद का महत्व विशिष्ट रूप से बढ जाता है। उस परिस्थिति मे राष्ट्र का अध्यक्ष अपने विवेक के आधार पर निर्णय करने के अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

विभिन्न प्रणालियां

राष्ट्रपति प्रणाली में निर्वाचित राष्ट्रपति दोनो पक्ष निभाता है। राष्ट्र के अध्यक्ष के औपचारिक काम भी और शासन के मुखिया का काम भी। यह प्रणाली रूस, सयुक्त राज्य अमेरिका और लातीनी अमेरिका के अधिकतर देशों मे प्रचलित है। ससदीय गणतत्र में राष्ट्रपति राष्ट्र का अध्यक्ष तो होता है परतु वह गैर कार्यपालक होता है। उसका चुनाव कही सीधा होता है कहीं संसद द्वारा (जैसे, जर्मनी, आयरलैड, भारत आदि में)। सांविधानिक राजतत्र मे राष्ट्र का अध्यक्ष पुश्तैनी होता है और आजीवन अपने पद पर बना रहता है (जैसे, बेल्जियम, स्पेन, यूनाइटेड किंगडम में)।

सर्वोत्तम कोई नहीं

इन प्रणालियों में सर्वोत्तम कौन-सी है ? इस प्रश्न का कोई सीधा-सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता। इनमे से प्रत्येक का आकलन सपूर्ण संवैधानिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। कार्यपालक राष्ट्रपति प्रणाली में यह दोष है कि राज्य का अध्यक्ष दैनंदिन राजनीति के मतभेदों से अलग नही रह सकता। न ही वह अलोकप्रिय अथवा असफल नीतियों के कारण बदनामी से बच सकता है। दूसरी ओर, गैर-निर्वाचित राजतत्र को लोकतत्रात्मक व्यवस्था नहीं कहा जा सकता, विशेषकर वहां जहां यह भू-संपत्ति तथा अभिजातीय प्रतिष्ठा पर टिका हो। राजघराने के लिए कम-से-कम जनमत द्वारा समर्थन अनिवार्य होना चाहिए और

उनके विशेषाधिकार की सीमा लिखित संविधान में बाधी जानी चाहिए।

18. अन्य किन लोक पदों के लिए सार्वजनिक चुनाव होना चाहिए ?

राष्ट्रीय प्रशासन मे जितने भी पदाधिकारी और कर्मचारी होते है उन सबकी कार्यक्षमता और आचरण के लिए कार्यपालिका का निर्वाचित प्रमुख जनता तथा संसद के सामने उत्तरदायी होता है। अतः इस बात पर जोर दिया जाता है कि ये नियुक्तियां ऊपर से की जाए, सामान्य चुनाव द्वारा नही। केवल यह निश्चित होना चाहिए कि ये नियुक्तिया समाज के किसी भी ऐसे सदस्य के लिए खुली हो जो अनिवार्य योग्यताए रखता हो। परतु लोकतत्र मे ऐसी भी लोकसेवाए अपेक्षित होती है जो स्थानीय आवश्यकताओ तथा स्थान विशेष की अपनी परिस्थितियो के अनुकूल हो। इसीलिए कहा जाता है कि ऐसी निर्वाचित सस्थाए भी होनी चाहिए जो स्वास्थ्य, शिक्षा, पुलिस आदि की स्थानीय व्यवस्था की देखरेख करे और जो सामान्य स्थानीय प्रशासन की जिम्मेदारी सभाले।

चुनाव तथा न्यायपालिका

क्या न्यायपालिका भी निर्वाचित होनी चाहिए ? ऐसे तो यह तर्कसगत दिखता है कि जैसे विधान सभा और प्रमुख कार्यपालक का चुनाव होना है वैसे ही न्यायपालिका का भी होना चाहिए। परतु चूकि न्यायपालिका का कार्य राजनीति की बजाय विधान से अधिक सबध रखता है और इसका विशेष गुण सुसगति तथा निष्पक्ष कार्य है, इसलिए इसका कार्यकाल सार्वजनिक विरोध तथा समाज के किसी वर्ग विशेष के समर्थन से जुडा नही होना चाहिए। यह देखना ससद का काम है कि विधान और दड आदि केवल न्यायपालिका के विचारो के नहीं, जनता के विचारों के भी अनुकूल हो। लोकतत्र का यह भी तकाजा है कि न्यायपालिका में नियुक्तियां करने मे विशेष सावधानी बरती जाए, विशेषकर वहा जहां इससे महिलाओ या सजातीय अथवा अन्य अल्पमत समुदायों के साथ अन्याय की संभावना हो। (न्यायपालिका की नियुक्तियो पर प्रश्न 40 में विचार किया गया है)

19. क्या संसद के निर्वाचित सदन एक से अधिक होने चाहिए ?

ससद का एक दूसरा सदन हो जो पहले सदन की निर्वाचित पद्धति से भिन्न पद्धति द्वारा चुना जाए। इस विचार का पक्ष इस आधार पर प्रस्तुत किया जाता है कि जो भी विधान बने, उस पर पहले से पूरा पूरा सोच-विचार करना और उसको

अधिक से अधिक समर्थन से पास करना ही हितकर है। सघीय प्रणाली मे इसका विशेष महत्व है जहां दूसरा सदन पूरे संघ-क्षेत्र की बजाय सघ के घटक राज्यो का प्रतिनिधित्व करता है। उन राज्यो में जहा व्यक्तिगत अधिकारो की संवैधानिक गारटी का अभाव होता है, दूसरा सदन विधान-निर्माण पर चौकसी का लाभदायक काम भी करता है।

भिन्न चुनाव

साधारणतया दोनो सदनो के चुनाव की पद्धति अलग अलग रहेगी। प्रवर सदन का चुनाव अपरोक्ष विधि से होता है या इसके लिए चुनाव-क्षेत्र भिन्न होते हैं या इसकी अवधि अलग से निश्चित की जाती है जैसे यह व्यवस्था कि किसी एक समय पर सभी सदस्यों का चुनाव न हो। ससदीय प्रणाली मे अवर सदन का चुनाव सारे देश मे से होता है। इसलिए शासन का वैध होना इसी पर आधारित माना जाता है। विधान-निर्माण मे भी इसी को प्राथमिकता मिलती है। प्रवर सदन को अधिक से अधिक यही अधिकार होता है कि विधान में विलब कर दे या उसे वीटो कर दे। परंतु लोकतत्र मे ऐसे द्वितीय सदन की कोई गुजाइश नही जो निर्वाचित न हो।

20. चुनाव कितनी अवधि पर होने चाहिए ?

उन्नीसवी शताब्दी मे यूरोप के उग्र लोकतंत्रवादियो की माग थी कि ससद के चुनाव प्रतिवर्ष होने चाहिए ताकि प्रतिनिधियों पर सक्रिय नियत्रण रखा जा सके। परतु आधुनिक काल में शासन और ससद का काम ऐसा हो गया है कि अर्थव्यवस्था के सम्यक बदोबस्त तथा नीतियो के प्रभावकारी होने के लिए एक वर्ष से अधिक समय की आवश्यकता है। इसलिए चार वर्ष की अवधि[1] पर सहमति मान ली गई है। इसको शासन की निरंतरता तथा संवेदनशीलता एवं उत्तरदायित्व मे समन्वय के रूप में मान लिया गया है।

चुनाव का समय

निर्वाचित पदों की कार्यावधि चाहे कुछ भी हो, महत्व की बात यह है कि चुनाव का समय निर्धारित करने का अधिकार शासक दल के हाथ में नहीं होना चाहिए। आगे चलकर (देखिए प्रश्न 31) इस विषय पर विचार किया जाएगा किंतु 'स्वतंत्र और निष्पक्ष' चुनाव का बुनियादी तकाजा है कि चुनाव की प्रक्रिया शासक दल

---

1 भारतीय संविधान में पाच वर्ष की अवधि का प्रावधान है।

या दल-समूह के नियत्रण में नही होनी चाहिए। ऐसा नहीं हो जिससे शासक दल को अनुचित लाभ मिले। यह शर्त चुनाव के समय-निर्धारण और प्रक्रिया, दोनो में दृष्टिगत रहनी चाहिए।

21. क्या किसी को मताधिकार से वंचित रखा जा सकता है ?

प्रायः लोकतत्रों मे बच्चो, अपराधियों और विदेशियो को इस अधिकार से वचित रखा जाता है। इनमे से प्रत्येक वर्ग को वंचित रखने के कारण अलग अलग है। एक विशेष आयु से कम के बच्चों के साथ इस व्यवहार की दलील सामान्य विवेक तथा विकास मनोविज्ञान पर आधारित है। एक विशेष आयु से पहले बच्चों में अनुभव या विवेक की कमी होती है। इसलिए वे जो चुनाव करते है, उसके दीर्घकालीन प्रभाव को समझना उन पर नही छोडा जा सकता। अधिकाश समाजो मे बच्चो को एक साथ कई अधिकार दिए जाते है जिससे उनकी वयस्कता परिभाषित होती है : विवाह करने का अधिकार, सपत्ति के स्वामित्व का अधिकार, अपने नाम से कानूनी कार्यवाही शुरू करने का अधिकार और वोट देने का अधिकार। ये अधिकार प्रायः अठारह वर्ष की आयु प्राप्त करने पर दिए जाते है, जो माध्यमिक विद्यालय छोडने की अधिकतम आयु और सैनिक सेवा की अनिवार्यता-आयु भी है।

निश्चित आयु सीमा

आयु कोई भी निश्चित करने मे मनमानापन तो होगा ही। उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि आजकल बच्चे पहले की अपेक्षा शीघ्र परिपक्व हो जाते है। अत वह 18 वर्ष की आयु तक पहुचने से पहले ही कुछ अधिकारो के योग्य हो जाते हैं जैसे रोजगार से धन कमाने का अधिकार। और यह एक खेदपूर्ण सत्य है कि कुछ बच्चो की उनके अभिभावको से सुरक्षा की भी आवश्यकता होती है। इस कारण उनके अपने जीवन के बारे मे निर्णय का अधिकार बहुत पहले से देना जरूरी हो जाता है। बुद्धि की परिपक्वता तो निरतर चलने वाला क्रम है। अतः लोकतांत्रिक नागरिक तैयार करने के लिए अल्पायु से ही परिवार और स्कूल के अदर सामूहिक निर्णय लेने मे उनको भागीदार बनाना चाहिए। परंतु इनमे से कोई भी कारण ऐसा नहीं जिसके आधार पर मतदान का अधिकार अठारह वर्ष की आयु से काफी पहले दिया जाए अथवा कोई ऐसी आयु इस अधिकार के लिए निश्चित न की जाए जिसके बारे में व्यापक सहमति हो कि इस आयु पर सभी व्यस्क माने जाएं और मताधिकार पाने के योग्य समझे जाएं।

अपराधी तथा मताधिकार

जो लोग किसी अपराध के लिए कारावास दंड भोग रहे हों उनको मताधिकार से वचित रखनें के लिए तर्क दिया जाता है कि जो लोग कानून भग करने के अपराधी हों उनका कानून बनाने में दखल नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत यह तर्क दिया जा सकता है कि स्वाधीनता से वचित होने का अर्थ यह नही होना चाहिए कि व्यक्ति अन्य सभी नागरिक अधिकारो से भी वचित हो जाए। कैदियों को तो विशेष आवश्यकता है निर्वाचित प्रतिनिधियो तक पहुंच की ताकि उनकी अवैध तथा अमानवीय व्यवहार और परिस्थितियो से सुरक्षा हो सके।

निवासी विदेशी

अंत में एक गभीर विवाद का विषय है निवासी विदेशियों को इन अधिकारों से वंचित रखने का। मताधिकार की बात इस दृष्टि से नागरिक होने की योग्यता से जुड जाती है। जब हम यह मानकर चलते हैं कि लोकतत्र का उदय 18वी शताब्दी मे वशगत अधिकार के इस सिद्धात के विरोध मे हुआ कि राजनीतिक अधिकार का आधार जन्म या वशगत है तो यह कतई तर्कसंगत नही कि जन्म अथवा वंश को नागरिकता का आधार बनाकर किसी देश के वैधानिक निवासियो को मताधिकार से बहिष्कृत कर दें। इस पर मतभेद हो सकता है कि स्थायी निवासी माने जाने के लिए निवास की अवधि क्या निश्चित की जाए। हमारे विचार में पाच वर्ष की अवधि उचित है।

22. मतदाताओं का पंजीकरण किस विधि से होना चाहिए ?

मतदाताओ के पजीकरण की बात तकनीक मात्र से सबंधित प्रतीत होती है, कितु व्यावहारिक रूप से देखा जाए तो जो विधि अपनाई जाती है, उसका काफी प्रभाव मतदान के अधिकार पर पड़ता है। चुनाव होने से पहले मतदाताओं की सूची बनाना सीधी और सरल आवश्यकता है। जरूरी है कि मतदाताओं की व्यक्तिगत रूप से पहचान हो और मतदान का लेखा रहे ताकि कोई व्यक्ति दो बार मतदान न कर सके, किसी दूसरे का वोट न डाल दे। या फिर ऐसा व्यक्ति मतदान न करे जिसे मतदान का अधिकार प्राप्त नही। किंतु पंजीकरण के लिए अपनाई गई विधि ऐसी भी हो सकती है कि नागरिक अपने को मतदाता-सूची में डलवाने से झिझके या फिर मतदान ही न करे। मतदाताओं का पजीकरण स्वैच्छिक हो और यह काम दलों के अवैतनिक स्वयंसेवको पर छोड़ दिया जाए। पजीकरण चुनाव से इतना पहले हुआ हो कि चुनाव आने तक यह बहुत पुराना हो जाए। सूची को राज्य के अन्य कार्यो

जैसे कर भुगतान, वैवाहिक अथवा व्यवसायिक स्थिति निर्धारित करने के लिए प्रयोग में लाया जाए, जबकि होना यह चाहिए कि इन विषयो में प्रत्येक नागरिक अपनी स्थिति अलग से स्वयं घोषित करे। लोकतंत्र के सबसे अनुकूल पंजीकरण की विधि वह होगी जिसके अनुसार मतसूची में पंजीकरण अनिवार्य हो और सूची विशेष रूप से शिक्षा-प्राप्त वैतनिक अधिकारी तैयार करे, सूची चुनाव के यथासभव निकट तिथि तक अद्यतन हो और इसे राज्य की अन्य अभिलेख सूचियों से सर्वथा अलग रखा जाए।

23. क्या मतदान अनिवार्य होना चाहिए ?

मनदान को अनिवार्य (आस्ट्रेलिया की भांति) करने के पक्ष मे कहा जाता है कि यह अधिकार ही नहीं, नागरिक कर्तव्य भी है जिसको प्राप्त करने के लिए पिछली पीढियो के लोगों ने भारी सघर्ष किया है ' मतदान से इनकार मतपत्र पर लिखित रूप से होना चाहिए, उदासीन, अनुपस्थित या मृन व्यक्ति की तरह अनुपस्थित रहकर नहीं। इसके विपरीत तर्क यह दिया जाता है कि 'स्वतंत्र चुनाव' मे अनिवार्यता तथा अधिकारो के प्रयोग के लिए आबद्ध करना परस्पर विरोधी बातें है। मतदाताओं की अनुपस्थिति तथा आबादी के विभिन्न समूहो में अनुपस्थिति की संख्या से महत्वपूर्ण इशारा मिलता है और इस बात की चेतावनी मिलती है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया मे क्या त्रुटिया या कमजोरिया हैं।

अनिवार्य पंजीकरण

प्रायः लोकतत्र दूसरे तर्क को मानकर मतदान को स्वैच्छिक रखते हैं। परंतु क्या यह प्रक्रिया उससे भिन्न है जिसमें पंजीकरण अनिवार्य होता है ? जरूरी नहीं। कोई व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग करे या नहीं, इसके लिए भी यह जरूरी शर्त है कि उसका नाम मतदाता सूची में दर्ज हो। इस सूची का उपयोग निर्वाचन के अन्य वैध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी किया जा सकता है। जैसे, विभिन्न मतदाता-क्षेत्रों में मतदाताओं की संख्या समान रखने के लिए। इसके लिए आवश्यक है कि सूची पूरी और ठीक ठीक बने।

24. मतदान गुप्त क्यों ?

उदारवादी अंग्रेज दार्शनिक जे. एस. मिल का विश्वास था कि मतदान खुला और सार्वजनिक होना चाहिए ताकि मतदाता अपने साथी नागरिकों के सामने उत्तरदायी

हो और इस प्रकार अपने मतदान का आधार व्यक्तिगत हित की बजाय बृहत सार्वजनिक हित को बनाने के लिए प्रेरित हो। यह ऊंचे आदर्श की बात है। बाद में बहुत कम विचारको ने इसका समर्थन किया है। व्यवहार में, सार्वजनिक मतदान के परिणामस्वरूप मतदाताओं पर बहुत-से अनुचित दबाव आने का भय होता है। जैसे मालिक, जमीदार, धर्माचार्य अथवा अन्य बड़े लोगो का दबाव। जो चुनाव लड रहे होते हैं, उनकी ओर से रिश्वत के द्वार भी इससे खुलते हैं। अत आजकल प्रत्येक लोकतत्र में गुप्त मतदान का ही प्रचलन हो गया है।

25. पद के लिए चुनाव लड़ने का अधिकारी कौन हो सकता है ?

सिद्धात रूप से तो जो मतदान का अधिकारी है उसे पद-प्राप्ति के लिए खडे होने का अधिकार भी होना चाहिए। परंतु कुछ देशो मे इसके लिए अपेक्षाकृत अधिक आयु की सीमा निर्धारित है।[2] यह अनावश्यक-सी बात लगती है क्योंकि जिस व्यक्ति को सार्वजनिक कार्य का कुछ अनुभव नही होगा उसे कोई भी गंभीर प्रत्याशी नहीं मानेगा।

नामांकन की शर्ते

प्रत्याशी बनने या नामाकन की विधि एक दूसरा प्रश्न है। बहुत-से देशो मे चुनाव मे व्यर्थ के प्रत्याशियों को रोकने के लिए नामांकन विधि मे यह शर्त लगा दी जाती है कि जिस चुनाव-क्षेत्र से कोई प्रत्याशी बनना चाहता है, वहां के पंजीकृत मतदाताओ मे से एक न्यूनतम सख्या से अपने पक्ष मे हस्ताक्षर करवाए।[3] तथा/अथवा एक निश्चित सुरक्षा राशि जमा कराए जो मतों की एक निश्चित संख्या न मिलने पर जब्त कर ली जाती है। इन दोनों विधियों में एक खतरा अवश्य रहता है कि यह केवल व्यर्थ के ही नही अपितु गंभीर प्रत्याशियो के लिए भी अड़चन बन जाती हैं, विशेषकर उस स्थिति मे जहा ये प्रत्याशी नए राजनीतिक दल या शक्तियो का प्रतिनिधित्व करते हों। कुछ देशों में केवल वे लोग प्रत्याशी बन सकते हैं जो पहले से पंजीकृत दलो के प्रतिनिधि हों। यह शर्त भी व्यर्थ के प्रत्याशियों

---

2 भारतीय नागरिको को मतदान का अधिकार 18 वर्ष की आयु पर मिल जाता है परतु वह ससद या विधान सभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष का होने तक चुनाव नहीं लड सकते। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपनि, राज्य सभा अथवा विधान परिषद का चुनाव लडने के लिए कम से कम 35 वर्ष की आयु निर्धारित है।

3 भारत मे ऐसा करना नही पडता। परतु यदि कोई प्रत्याशी डाले गए मतो मे से 10 प्रतिशत से कम मत प्राप्त करता है तो उसकी सुरक्षा राशि जब्त कर ली जाती है।

को रोकने के लिए लगाई जाती है। परंतु यह दलों तथा प्रत्याशियों पर राजनीतिक नियत्रण लगाने का काम भी कर सकती है और इस प्रकार मतदाताओ के विचारो की समुचित अभिव्यक्ति मे बाधक भी बन सकती है।

प्राथमिक चुनाव

सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रत्येक दल के प्रत्याशियो का चुनाव उस दल विशेष के पजीकृत मतदाताओं द्वारा प्राथमिक चुनाव के आधार पर किया जाता है। इस पद्धति से चुनाव मे खडे होने और जीतने मे मतदाताओ का अधिकार तो बढता है किंतु इससे चुनाव व्यय भी बहुत बढ़ जाता है। इससे उन लोगों को अनुचित लाभ मिलता है जो या तो स्वय धनवान हो या जिनको धनवानो का समर्थन प्राप्त हो। इस कमजोरी को देखते हुए प्रत्याशी चुनने के लिए सबधित जिले या निर्वाचन-क्षेत्र मे उस दल के सभी सदस्यो का मतदान कराया जाता है। परंतु प्रत्याशी के चुनाव में इतनी लोकतांत्रिक पद्धति भी सब जगह प्रचलित नही है।

26. सार्वजनिक पदों के लिए निर्वाचित व्यक्तियों में महिलाओं की संख्या इतनी कम क्यों रहती है ?

पश्चिमी लोकतत्रों मे मतदाताओं मे महिलाओं की संख्या के अनुपात को देखते हुए निर्वाचित प्रतिनिधियों मे महिलाओ का अनुपात बहुत कम दिखाई देता है[4]। चिरस्थापित लोकतत्रो मे औसत 15 प्रतिशत से भी कम है। उत्तरी यूरोप के देशों में 35 प्रतिशत, अन्यत्र 10 प्रतिशत और फ्रास में केवल 6 प्रतिशत महिला प्रतिनिधि हैं। इसका कारण कुछ तो ऐतिहासिक है, कुछ पारिवारिक और कुछ राजनीतिक। मानव इतिहास की एक लंबी अवधि तक महिलाओं को राजनीतिक गतिविधियों के लिए नैसर्गिक रूप से अयोग्य माना जाता रहा और उन्हें परोक्ष या अपरोक्ष विधि द्वारा इस क्षेत्र से अलग रखा गया। इससे उनकी अयोग्यता का विचार और भी दृढ हो गया। महिलाओ के राजनीति मे आगे बढने के मार्ग में इस ऐतिहासिक बाधा के अतिरिक्त पारिवारिक कठिनाइयां भी आडे आती हैं। परिवार में काम का विभाजन समान नही होता। बच्चों के पालन-पोषण और घर के कामकाज का प्राय: सारा बोझ महिला को उठाना पडता है। राजनीति में समय बहुत लगता है। शासन और संसद का काम ऐसे समय मे होता है कि अन्य सामाजिक जीवन के लिए

4 भारतीय संविधान मे पचायत या नगर परिषद की एक-तिहाई सीटे प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा महिलाओ के लिए आरक्षित है। लेकिन किसी भी राज्य की विधान सभा अथवा ससद के लिए इस प्रकार के आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं है।

समय नही रहता। राजनीतिक जीवन मे प्रतिस्पर्धा, दलगत प्रतिद्वंद्विता तथा व्यक्तिगत रूप से आगे बढने की प्राथमिकता या प्रधानता रहती है और पुरुषों के मुकाबले महिलाए यह सब कम रुचिकर पाती है।

समता का महत्व

इससे क्या होता है ? राजनीतिक समता के दृष्टिकोण से यह बात बहुत महत्व की है कि समाज के किसी वर्ग की पहुच निर्वाचित अथवा अनिर्वाचित लोक पदो के लिए अन्य वर्गो के मुकाबले काफी अधिक है। इस अवधारणा के भी पर्याप्त कारण है कि महिलाओ से सबधित प्रश्नों पर पुरुष गभीरता से ध्यान नही देते या सार्वजनिक धनराशि के आबटन में उनको समुचित महत्व नहीं दिया जाता। सभी महिलाओं के विचार एक जैसे तो नही फिर भी अधिकतर महिलाओ को यह बात अखरती है कि गर्भनिरोध, गर्भपात, बलात्कार आदि विषयो पर निर्णय पुरुष-प्रधान ससद करे। कुछ भी हो, यदि सार्वजनिक जीवन मे महिलाओं के विशेष गुणो और लक्षणो का ध्यान नही रखा जाता तो हानि सारे समाज की होती है।

संतुलन में परिवर्तन

इस परिस्थिति को कैसे सुधारा जाए ? यह राजनीतिक असमानता ऐतिहासिक क्रम की देन है। इसे दूर करने के लिए कई स्तरो पर समुचित कार्रवाई करनी होगी। विद्यालयी तथा सार्वजनिक शिक्षा द्वारा मानसिकता बदलनी होगी, बच्चो की देखभाल की सुविधाए बढानी होगी, ससद के कार्यक्रम तथा सुविधाओ को बदलना पडेगा। इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। राजनीतिक दलो का विशेष दायित्व है कि वे महिला सदस्यो को प्रोत्साहन दें और चुनावो में प्रत्याशी बनाएं। उनके लिए स्थान अथवा कार्यक्षेत्र सुरक्षित करके कोटा निर्धारित किया जा सकता है। यह प्रयोग उत्तर यूरोप के (नार्डिक) देशो मे किया गया है और सफल रहा है।

27. संसदीय प्रतिनिधि मतदाताओं का प्रतिनिधित्व किस प्रकार करते हैं ?

राजनीतिक प्रतिनिधित्व के दो अभिप्राय माने जाते है। एक है अभिकर्ता की अवधारणा। इसके अनुसार माना जाता है कि संसदीय प्रतिनिधि अपने मतदाताओ द्वारा 'अधिकृत', 'उनके स्थान पर' या 'उनकी ओर से' काम करता या करती है। कुछ मामलो में वह अपने सारे मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे स्थानीय हितो की रक्षा, स्थानीय विचारो की अभिव्यक्ति या फिर व्यक्तिगत शिकायतें दूर कराना। दूसरे रूप मे, वह केवल उन लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते है

जिन्होने उनके पक्ष में मतदान किया हो। वह उन कार्यक्रमों और नीतियो का पोषण करते है जो उन्होने अपनी चुनावी घोषणा में सामने रखी थीं और जिनका कुछ मतदाताओ ने समर्थन किया था और कुछ ने विरोध। यह मात्र कपोलकल्पना है कि कोई संसदीय प्रतिनिधि अपने चुनाव-क्षेत्र के सभी मतदाताओ की ओर से बोलता या काम करता है। यह सभव ही नही है, क्योकि वह तो उन कार्यक्रमों के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रतिबद्ध है जिनके आधार पर उसने चुनाव लडा था और जिनकी पूर्ति के लिए वह उत्तरदायी है।

लघुरूपी (माइक्रोकॉस्मिक) प्रतिनिधित्व

राजनीतिक प्रतिनिधित्व की दूसरी अवधारणा है लघुरूपी प्रतिनिधित्व। इसका सबध व्यक्तिगत प्रतिनिधियो से नहीं, प्रतिनिधि विधायिका के सामूहिक रूप से है। प्रतिनिधि विधायिका वही होती है जिसमे सामाजिक सघटन, भौगोलिक वितरण, विभिन्न दलों द्वारा प्राप्त मतो आदि की दृष्टि से सभी मतदाताओं की झलक मिलती है। इनमे से कौन-सी बात सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ? महत्व तो सभी का है, परंतु जब व्यवस्था ऐसी हो जिसमे विभिन्न दल अपने अपने विधान-निर्माण-कार्यक्रमो के आधार पर मुकाबला करते हों वहा यह आवश्यक हो जाता है कि विधायिका की सरचना मे राष्ट्रव्यापी मतदान की झलक मिले। यह शर्त आनुपातिक निर्वाचन पद्धति मे पूरी तरह झलकती है। (देखिए प्रश्न 28)

दो लोकतांत्रिक सिद्धांत

अभिकर्तात्मक और लघुरूपी (माइक्रोकॉस्मिक) प्रतिनिधित्व की ये दो अवधारणाए लोकतंत्र के उन दो सिद्धांतों का मूर्त रूप है जिनकी रूपरेखा प्रश्न 1 मे दी गई है। सामान्य जन की प्रभुसत्ता (अर्थात सामान्य जनता समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत है तथा ससद और शासन पर उसका अकुश रहना चाहिए) इस विचार मे झलकती है कि प्रतिनिधि वस्तुतया मतदाताओं का अभिकर्ता है। वह मतदाताओं द्वारा अधिकृत होता है, उनकी ओर से काम करता है। वह उनके प्रति उत्तरदायी होता है और वे यदि चाहें तो उसे हटा सकते हैं। दूसरी अर्थात लघुरूप की अवधारणा राजनीतिक समता के सिद्धात का साकार रूप है। इसके अनुसार प्रत्येक मत का वजन या मूल्य समान होता है, चाहे मतदाता का निवास कहीं भी हो और वह किसी भी दल के पक्ष में मतदान करे। जिस हद तक इस सिद्धांत का पालन होता है उसी हद तक विधायिका मतदाताओं की लघुरूपी (माइक्रोकॉस्मिक) प्रतिनिधि कहला सकती है। उसी हद तक इसमें भौगोलिक वितरण और विभिन्न दलो के समर्थन की भी झलक दिखाई देती है।

8. विभिन्न चुनाव पद्धतियों में क्या क्या अंतर हैं ?

ससार मे कई प्रकार की चुनाव पद्धतिया प्रचलित हैं परंतु यहां केवल पाच प्रमुख पद्धतियो की रूपरेखा दी जाएगी। इनमे से प्रत्येक के गुण-अवगुण पर विचार अगले प्रश्न के उत्तर में किया जाएगा। यहां उनका वर्णन मात्र है।

मताधिक्य पद्धति

मताधिक्य पद्धति में 'सबसे अधिक मत पाने वाला' विजयी माना जाता है। विधायिका-निर्वाचन की यह पद्धति संयुक्त राज्य अमेरिका, प्राय· लातीनी अमेरिका, तथा ब्रिटेन और उसके भूतपूर्व उपनिवेशो मे प्रचलित है। इस पद्धति के अनुसार देश को समान मत संख्या वाले एकल-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्रो मे बाटा जाता है। मतदाता मतपत्र पर एक ही प्रत्याशी के पक्ष में मतदान करते है। जो प्रत्याशी सबसे अधिक मत प्राप्त कर ले, वह विजयी घोषित होता है, भले ही उसे डाले गए कुल मतो मे से बहुसख्यक मत प्राप्त हुए हो या नही।

वैकल्पिक मत

वैकल्पिक मत का प्रयोग आस्ट्रेलिया के अवर सदन के चुनाव मे किया जाता है। इसमें चुनाव-क्षेत्र तो ऊपर की पद्धति से ही निर्धारित होते है कितु मतदाता प्रत्याशियो के प्रति वरीयता दर्ज करते हैं। यदि प्रथम वरीयता के आधार पर कोई भी प्रत्याशी निर्वाचित नहीं होता तो सबसे कम वरीयता पाने वाले प्रत्याशी को हटाकर उसके पक्ष मे डाले गए मतपत्र उस प्रत्याशी के पक्ष मे जोड दिए जाते है जिसके लिए दूसरी वरीयता अंकित की गई हो। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक किसी एक प्रत्याशी को बहुमत नहीं मिल जाता। बहुमत उपलब्ध करने की एक दूसरी विधि भी है जिसके अनुसार सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले दो प्रत्याशियों के बीच पुन मतदान कराया जाता है। यह विधि फ्रांस मे प्रचलित है।

एकल हस्तांतरणीय मत

एकल हस्तांतरणीय मत की पद्धति आयरलैंड, माल्टा तथा आस्ट्रेलिया के प्रवर सदन (सैनेट) के चुनाव में प्रचलित है। इसमें चुनाव-क्षेत्र एक से अधिक प्रतिनिधि चुनते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिनिधियों की संख्या प्रायः जनसख्या की सघनता के अनुपात से तीन से लेकर सात तक होती है। प्रत्येक मतदाता उतने मत अंकित कर सकता

है जितने प्रतिनिधि चुनने होते है। वह उन पर अपनी वरीयता भी इंगित करता है। चुने जाने के लिए प्रत्येक प्रत्याशी को डाले गए मतो का एक निश्चित अनुपात अथवा 'कोटा' प्राप्त करना होता है। जो प्रथम वरीयता की गिनती मे यह कोटा प्राप्त नही कर पाता, वह दूसरी या किसी अन्य वरीयता की गिनती मे प्राप्त कर सकता है। वरीयताओ के पुनर्वितरण की भी एक निश्चित विधि होती है।

दलीय सूची

दलीय सूची की पद्धति का प्रयोग पश्चिम यूरोप के अधिकतर देशों तथा इजराइल मे होता है। सभी दल, प्रत्याशियो की क्रमानुसार क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय सूचिया बनाते हैं-और मतदाता जिस दल का पक्षधर हो, उसके पक्ष मे एक मत डालता है। प्रत्येक दल के प्रत्याशी प्राप्त मतो के अनुपात के अनुसार चुने जाते है। प्रतिनिधित्व पाने के लिए किसी दल को मतदान का एक निश्चित हिस्सा प्राप्त करना पडता है।

मिश्रित सदस्य पद्धति

मिश्रित सदस्य अथवा अतिरिक्त सदस्य पद्धति का प्रयोग जर्मनी और हगरी मे किया जाता है। न्यूजीलैड मे भी ऐसा करने का प्रस्ताव है। इसमे प्रतिनिधियो का एक भाग (कम से कम 50 प्रतिशत) ऊपर दी गयी पहली दो पद्धतियो के अनुसार एकल-सदस्य चुनाव-क्षेत्रों से चुना जाता है। अन्य प्रनिनिधि क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय स्तर पर बनाई गई दलीय सूची पद्धति से इस प्रकार चुने जाते है कि अतिम निर्णय विभिन्न दलों द्वारा प्राप्त मतो के लगभग सानुपातिक हो। मतदाता दो मत डालते है, एक प्रत्याशी के पक्ष मे और दूसरा दल के। इसमे भी प्रतिनिधित्व पाने के लिए एक दल को मतों का एक कम-से-कम हिस्सा प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

29. इन पद्धतियों के क्या क्या लाभ-हानि हैं ?

विभिन्न निर्वाचन पद्धतियो के गुण-दोष किसी देश विशेष की जनसख्या के स्वरूप और वितरण तथा उसके विभिन्न दलों को प्राप्त समर्थन के प्रतिरूप से अलग करके ठीक ठीक नही आंके जा सकते। उदाहरणतया यदि किसी देश में स्थापित राजनीतिक दल ही न हों तो 'सानुपातिक' निर्वाचन पद्धति व्यर्थ होगी, क्योकि दलो मे बटे मतदान ही को तो अनुपातिकता का आधार बनाना होता है। इसलिए जो मूल्यांकन हम यहां दे रहे हैं, उसे विभिन्न पद्धतियों की सामान्य प्रवृत्तियों का सूचक



वैधता से बच निकलने के प्रयास को अलोकतांत्रिक करार दिया जाना चाहिए।

मतदाता की पसंद

एकल हस्तातरणीय मतदान पद्धति मे छोटे दलो को भी प्रतिनिधित्व मिल जाता है। इसका अनुपात क्या होगा यह चुनाव-क्षेत्रो के निर्धारण पर निर्भर है (जितना बड़ा चुनाव-क्षेत्र होगा, पतिनिधित्व उतना ही सानुपातिक होगा)। किसी दल विशेष के समर्थक उसके प्रत्याशियों के बीच वरीयता बाट सकते हैं। परतु चुनाव-क्षेत्र बहुत विस्तरित हो तो प्रतिनिधि और मतदाता का संपर्क टूट जाता है जो एकल-सदस्य चुनाव-क्षेत्रों मे बना रहता है। प्रत्याशियो के बीच निचली वरीयता वाले मतो को बाटने की प्रक्रिया भी बहुत जटिल होती है।

आनुपातिकता

दलीय सूची पद्धति के पक्ष में कहा जा सकता है कि इसमे प्रत्येक मत को लगभग समान मूल्य या महत्व मिलता है। विभिन्न दलो को उन्हे प्राप्त मतो के अनुपात के अनुसार स्थान मिल जाते हैं। इसका दोष यह है कि प्रतिनिधि किसी भी चुनाव-क्षेत्र के मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। मतदाताओ का (दल के सदस्यों तक का) दल के प्रत्याशियों की सूची बनाने में कोई दखल नहीं रहता। परिणामतया निर्वाचित प्रतिनिधि मतदाताओं की बजाय दल के केंद्रीय सगठन के प्रति अधिक वफादार रहते है। हां, सूची पद्धति में दलों को यह अवसर निश्चय ही मिलता है कि वे दल के अंदर विभिन्न प्रवृत्तियो तथा विभिन्न सामाजिक समूहों को देखते हुए 'संतुलित' सूची बनाएं।

अंतरात्मक प्रतिनिधित्व

मिश्रित सदस्य पद्धति से लगभग सानुपातिक परिणाम उपलब्ध हो सकते हैं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रतिनिधियों का कितना अनुपात एकल सदस्य चुनाव-क्षेत्रों से निर्वाचित होकर आया है। इसके फलस्वरूप जब किसी दल के पक्ष में समर्थन का जबरदस्त उभार हो तो एक दल का शासन बनता है। यदि समर्थन दलों के बीच लगभग समान रूप से बंटा हो तो मिलीजुली सरकार बनानी पडती है। इसमें सूची पद्धति के दोष तो हैं ही, इसके अतिरिक्त इसमें दो भिन्न प्रकार के प्रतिनिधि चुने जाते हैं, एक वे जिनके चुनाव-क्षेत्र हैं और दूसरे वे जिनके चुनाव-क्षेत्र नहीं हैं। इस पद्धति के समर्थकों का कहना है कि ये दोष दूर हो सकते हैं यदि दलीय सूचियां उन प्रत्याशियों में से बनाई जाएं जो चुनाव-क्षेत्रों में सबसे कम मतों से हारे हैं और इन सदस्यों को उन चुनाव-क्षेत्रों का दायित्व सौंप दिया जाए।

मात्र मानना चाहिए, उनके अनिवार्य प्रभावों का सूचक नही।

सरलता

सबसे अधिक मत पाने वाले को विजयी घोषित करने की पद्धति सबसे अधिक सरल है। इसके द्वारा ससद में एक ही दल का बहुमत होने तथा एक ही दल का शासन बनने की सभावना अन्य पद्धतियो के मुकाबले अधिक होती है, क्योंकि यह सबसे बडे दल के जन-समर्थन को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाती है। इसके द्वारा मतदाताओ की राय में आए मामूली से परिवर्तन का भी पता चल जाता है और उस आधार पर शासन बदल सकता है। शासन-परिवर्तन अलबत्ता 'सीमांत' चुनाव-क्षेत्रो पर निर्भर होगा। इस पद्धति का दोष यह है कि इससे अत्यत अनुपातहीन परिणाम प्राप्त हो सकते हैं जो इस पर निर्भर करता है कि राष्ट्रीय मत दलों तथा चुनाव-क्षेत्रो के बीच किस प्रकार बटा है। उदाहरण के लिए, यदि प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र में चार दलो के बीच मतदान का अनुपात 40, 30, 20, 10 रहे और यही अनुपात उन दलों के बीच बटे राष्ट्रीय मत का भी हो तो 40 प्रतिशत मत पाने वाला दल सभी स्थान जीत सकता है। और 60 प्रतिशत मतदाताओं का कोई प्रतिनिधित्व नही होगा। लेकिन ऐसा होता कभी नही। तो भी यह पद्धति उन दलो के प्रति पक्षपात बरतती है जिनका समर्थन कतिपय क्षेत्रो में केंद्रित होता है और वे दल घाटे मे रहते है जिनका समर्थन हल्का परंतु सर्वत्र फैला होता है। बहुत-कुछ चुनाव-क्षेत्रों के निर्धारण पर भी निर्भर रहता है। इससे मतदाताओ को युक्तिपूर्ण मतदान करने का भी प्रोत्साहन मिलता है और वे अनिवार्यतया उस पक्ष में मतदान नहीं करते जिसको वह सबसे अधिक चाहते है। परिणाम तर्कहीन होते हैं क्योंकि उनको ठीक ठीक यह ज्ञान नहीं होता कि अन्य मतदाता कैसे मतदान कर रहे है।

बहुमत समर्थन

मताधिक्य पद्धति के मुकाबले वैकल्पिक मत पद्धति का लाभ यह है कि चुने जाने वाले प्रत्याशी को चुनाव-क्षेत्र के मतदाताओं का बहुमत प्राप्त करना होता है जो मताधिक्य पद्धति में आवश्यक नहीं है। इस प्रकार का बहुमत चुनाव-क्षेत्र विशेष का समुचित प्रतिनिधित्व करने के लिए न्यूनतम शर्त मानी जानी चाहिए। इसका परिणाम मोटे तौर पर अधिक सानुपातिक भी होता है। किंतु इसमे भी तीसरे और चौथे नबर के ऐसे दल ससद में प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाते हैं जिन्हें यद्यपि पर्याप्त समर्थन प्राप्त होता है परंतु वह सर्वत्र एक-सा बिखरा होता है।

30. क्या मिलीजुली सरकार अलोकतंत्रीय होती है ?

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों का कहना है कि मताधिक्य तथा वैकल्पिक मत वाली पद्धतियां अलोकतंत्रीय है। उनमे नागरिकों के मतो का मूल्य एक समान नहीं रहता। कुछ का मूल्य अधिक हो जाता है, कुछ का कम। यह लोकतत्र के मूल सिद्धात यानी राजनीतिक समत का उल्लघन है। इस प्रकार ऐसी सरकारें चुन ली जाती है जिनको मतदाताओं के अल्पमत का ही समर्थन प्राप्त होता है। कभी कभी तो यह अल्पमत बहुत ही छोटा होता है। इसके विपरीत, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आलोचक तर्क देते है कि इस पद्धति मे मिलीजुली सरकार बनाना अनिवार्य ही होगा क्योंकि ऐसा बहुत कम होना है कि किसी एक दल को जनमत का बहुमत प्राप्त हो जाए। मिलीजुली सरकार बनती है तो शासन-निर्माण मतदाताओ के हाथ से निकलकर दलो के मुख्य नेताओ के हाथो मे चला जाता है। इससे सार्वजनिक नियंत्रण और जनता के प्रति उत्तरदायित्व मे कमी आ जाती है। ऐसा भी हो जाता है कि छोटे दलो को सत्ता मे उनकी शक्ति के अनुपात से अधिक भाग मिल जाए। ऐसा होने की सभावना तब अधिक होती है जब ऐसे दलो की हैसियत दक्षिणपथी और वामपथी बड़े दलो के बीच 'सतुलन' की हो। इस तर्क के विरोध में कहा जा सकता है कि सभी दलो को मिलीजुली सरकार के निर्णयो के लिए अपने अपने मतदाताओ के समक्ष उत्तरदायी होना ही पडेगा। एक चुनाव से दूसरे चुनाव के अतराल मे मतदाताओ की रुचि में दक्षिण और वामपथियों के प्रति जो बदलाव आता है, उसकी भी मध्यमार्गी दल अनदेखी नही कर सकते।

विशिष्ट परिस्थितियां

इस मामले मे भी विभिन्न तर्को पर निर्णय देश विशेष तथा उसकी परिस्थितियो से अलग हटकर नहीं किया जा सकता। हाल ही की ऐतिहासिक घटनाओ को ले लें। एक ओर बरतानिया में सरल मताधिक्य पद्धति की अपूर्णताए सामने आई हैं तो दूसरी ओर इटली में ठीक उसी प्रकार विशुद्ध आनुपातिक पद्धति के दोष प्रकट हुए हैं। हो सकता है कि कोई ऐसी प्रणाली अधिक उपयोगी सिद्ध हो जिसमे चुनाव-क्षेत्र प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुणों के साथ आनुपातिक प्रणाली के कुछ प्रतिसंतुलनकारी तत्व शामिल कर दिए गए हों। इनमे परस्पर क्या अनुपात और संबंध रखा जाए, इसका निर्णय तो दलों के विकास और व्यापक संवैधानिक व्यवस्था को .ध्यान् में रखकर ही किया जा सकता है।

31. चुनाव-प्रक्रिया की निष्पक्षता की गारंटी कैसे हो ?

चुनाव-प्रक्रिया की निष्पक्षता को तीन प्रकार के खतरे हो सकते है। पहला खतरा तो वह विशेष लाभ है जो शासक दल या दलो को सत्ता मे रहने से मिलता है। इसका पूर्णतया निराकरण तो नही हो सकता परतु इसके कुछ उपाय किए जा सकते हैं। सबसे पहले तो सारी-की-सारी चुनाव-प्रक्रिया (चुनाव-क्षेत्र निर्धारण से लेकर मतदाताओ के पजीकरण, चुनाव अभियान, स्वयं चुनाव तथा मतो की गणना तक) एक स्वाधीन निर्वाचन आयोग की देखरेख मे चलनी चाहिए। निर्वाचन आयोग के सदस्य सभी दलो की सहमति मे नियुक्त किए जाएं। यदि देश मे स्वाधीन प्रसारण आयोग न बना हुआ हो तो निर्वाचन आयोग का कर्तव्य होगा कि वह चुनाव अभियान के समय सभी दलो को सार्वजनिक नियत्रण मे कार्यरत संचार-माध्यमो की सुविधाओ की उपलब्धि को विनियमित करे। दलों की व्यवस्था को शासन की व्यवस्था से वैधानिक रूप से अलग करने का भी बहुत बड़ा महत्व है। चुनाव के दौरान मत्रियो को उन सभी कर्तव्यो तथा सुविधाओ से अलग कर देना चाहिए जो चुनाव में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक न हो।

चुनावी भ्रष्टाचार

चुनाव की निष्पक्षता को दूसरा खतरा घूस, दबाव, जाली मतदान, दोहरा मतदान आदि भ्रष्टाचारो से होता है, जो दलो के सदस्य तथा उनके समर्थक चुनाव के दौरान अपनाते है। यह तभी संभव हो सकता है जब प्रत्याशियों की निजी सुरक्षा तथा चुनाव प्रक्रिया की ईमानदारी सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे पुलिस और चुनाव अधिकारी नियुक्त किए जाएं। चुनाव अधिकारियो की क्षमता भी महत्व रखती है। उनकी नियुक्ति तथा प्रशिक्षण राष्ट्रीय निर्वाचन आयोग के हाथों में होना चाहिए। अनुभवी अंतर्राष्ट्रीय प्रेक्षको की उपस्थिति से भी बहुत लाभ हो सकता है। वास्तव मे, सभी लोकतत्रों के राष्ट्रीय चुनावों के दौरान उनकी उपस्थिति सुनिश्चित और अनिवार्य होनी चाहिए। इससे चुनावो की निष्पक्षता की बाहरी गारटी भी होगी और सर्वोत्तम निर्वाचन व्यवस्था की सब जगह जानकारी पहुचाने का काम भी हो सकेगा।

धन का प्रभाव

कतिपय प्रत्याशियों तथा दलों के पास अपने धन तथा धनाढ्य समर्थको के कारण भी निर्वाचन प्रक्रिया की निष्पक्षता खतरे में पड जाती है। इसका सीधा-सादा उपाय यह है कि दलों तथा प्रत्याशियों की ओर से राष्ट्रीय एवं स्थानीय स्तर पर



स्वतत्रता और निष्पक्षता के लिए खतरा है—रिश्वतखोरी, डराना धमकाना, पररूपधारण।

चुनाव-व्यय की सीमा बाधकर उसका कडाई से पालन किया जाए। इसके साथ ही, उनको सार्वजनिक सचार साधनो के उपयोग की निःशुल्क सुविधा दी जाए। इस सुविधा के लिए मार्गदर्शक नियम निर्वाचन आयोग या उसके समकक्ष कोई सस्थान बनाए।

मत-सर्वेक्षण

चुनाव की निष्पक्षता पर मत-सर्वेक्षण के दुष्प्रभाव पर आजकल बहुत-से देशों के अदर बहस चल रही है। कुछ देशो मे तो चुनाव के अतिम सप्ताह अथवा पूरी चुनाव-प्रक्रिया के दौरान मत-सर्वेक्षण के प्रचार-प्रसार पर कानूनी रोक लगा दी गई है। इसका कारण यह अवधारणा है कि इनके 'अनुरूपता प्रभाव' अथवा 'प्रति-अनुरूपता प्रभाव' के कारण स्वय चुनाव के परिणाम पर असर पडता है। उनसे चुनाव के प्रत्याशित परिणाम के अनुसार मत डालने की गलत प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जबकि उचित यह है कि मतदान चुनावी मुद्दो के आधार पर किया जाए। लेकिन बहुत-से विशेषज्ञ मतदान पर मत-सर्वेक्षण के प्रभाव पर सदेह करते हैं। उनको इनके दबाए जाने की व्यावहारिकता पर भी सदेह है, क्योंकि आजकल अतर्राष्ट्रीय सचार-माध्यमों की पहुच सर्वत्र है।

32. क्या राजनीतिक दलों को सरकारी वित्तीय सहायता देना उचित है ?

राजनीतिक दलों को सरकारी वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने के पक्ष मे यही तर्क दिया जाता है कि लोकतत्रीय व्यवस्था में उनकी मूलगामी भूमिका है जिसको वित्तीय सहायता के रूप मे स्वीकारना चाहिए। ऐसा करने से राजनीतिक प्रक्रिया पर निहित स्वार्थो का प्रभाव भी कम रहेगा। विभिन्न दलों को यह सहायता राष्ट्रीय चुनाव में प्राप्त समर्थन के अनुपात से दी जा सकती है। यदि कोई दल किसी वर्ग विशेष को नागरिक एव राजनीतिक अधिकारो से वंचित रखने के लिए अभियान चलाए या वह चुनावी भ्रष्टाचार का अपराधी सिद्ध हो जाए तो उसको यह सरकारी सहायता न दी जाए।

दलीय स्वायत्तता

राजनीतिक दलो को सरकारी वित्तीय सहायता देने के विरोध मे मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि वह जनभावना को सक्रिय रूप से मुखर करने में उसी हद तक सफल होंगे जिस हद तक वे शासन से स्वायत्त रहेंगे। इस तरह की स्वायत्तता के लिए स्वैच्छिक वित्तीयन अनिवार्य है। यदि कोई दल अपना नाम स्वैच्छिक अंशदानों के

आधार पर नहीं चला सकता तो वह सार्वजनिक पद पाने के योग्य भी नहीं माना जा सकता। निहित स्वार्थो के अनुचित प्रभाव को रोकने का उपाय यह है कि किसी दल को एक निश्चित राशि से अधिक दिए गए अशदानों की सार्वजनिक घोषणा कराई जाए। साथ ही, अंशदान करने वाली संस्थाए अपने सदस्यो, शेयरधारकों आदि से स्पष्ट अनुमति लेने के लिए आबद्ध कर दी जाएं।

सीमित सार्वजनिक सहायता

सभी स्थापित लोकतत्रो मे अपेक्षा की जाती है कि राजनीतिक दल स्वैच्छिक साधनों से चलेंगे। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि सुनिश्चित कार्यो के लिए सीमित सार्वजनिक सहायता भी न दी जाए। इस सहायता का स्वरूप दल के कार्यकर्ताओ का प्रशिक्षण या चुनाव के समय सरकारी संचार प्रसाधनो की सुविधा हो सकता है। इस प्रकार की वित्तीय सहायता लोकतंत्र की स्थापना के सक्रमण काल मे विशेष तौर पर आवश्यक होती है, क्योंकि उस समय दलो का अभी जन्म हुआ होता है और उन्हें चुनावी प्रतिस्पर्धा का कोई अनुभव नहीं होता।

33. क्या निर्वाचित प्रतिनिधियों को दो चुनावों के बीच की अवधि में दल बदल की छूट होनी चाहिए ?

कदापि नहीं। जब कोई प्रत्याशी किसी दल के टिकट पर चुनाव लडता है तो उसका अर्थ यह है कि वह उस दल को पदासीन करने के समर्थन मे वोट मांगता है। यदि ऐसा नहीं हो तो विभिन्न कार्यक्रमों नथा राजनीतिक प्रवृत्तियो मे से किसी एक के मतदान द्वारा चुनाव का कोई अर्थ नही रहता। चुनाव-क्षेत्रों पर आधारित निर्वाचन-व्यवस्था के अंतर्गत यदि कोई प्रतिनिधि दल बदल करना चाहे तो उसे त्यागपत्र देकर उपचुनाव लड़ना चाहिए[5]। जहां सूची पद्धति प्रचलित हो वहा तो उसे केवल त्यागपत्र देना होगा और सूची में जिसका नाम उसके नाम के बाद आता होगा, वह उसका स्थान ले लेगा।

---

5 भारत में 'यदि एक-तिहाई से कम निर्वाचित सदस्य दल बदल करते हैं तो दल बदल अधिनियम के तहत उन्हे सबद्ध सदन की सदस्यता से वंचित होना पड़ता है। लेकिन एक-तिहाई से अधिक सदस्यों के अलग होने पर वे नया दल बना सकते हैं या फिर किसी अन्य दल में शामिल हो सकते है।

34. क्या दो चुनावों के बीच की अवधि में भी मतदाताओं के हाथ कोई सत्ता होती है ?

यह एक भ्रम है कि दो चुनावो के बीच की अवधि मे मतदाता सर्वथा अशक्त या सत्ताहीन होते है, क्योकि उनका राजनीतिक कार्य चार वर्ष या इसके आसपास मतदान तक सीमित है। भारतीय प्रणाली मे यदि किसी दल के एक-तिहाई से कम सदस्य दल बदल करना चाहे तो विधायिका मे सदस्यता से निष्कासित हो जाते है। पक्षत्याग-विरोधी कानून के अनुसार इसे पक्षत्याग माना जाता है। परतु यदि एक-तिहाई या उससे अधिक सदस्य अलग होना चाहे तो वे अलग होकर नया दल बना सकते हैं अथवा किसी दूसरे दल मे शामिल हो सकते है। आगामी चुनाव मे मतदाताओ के पास जाना पडेगा, इस कारण शासक दलो पर अकुश बना रहता है और वे निरतर जनभावना को समझने के लिए बाध्य रहते हैं। अन्य शब्दो मे, चुनाव की छाया उन पर निरतर बनी रहती है। यह चुनाव-क्षेत्रों पर आधारित चुनाव पद्धति मे विशेष रूप से देखने में आती है। यहा यदि एक उपचुनाव मे शासक दल हार जाए तो नीति अथवा/तथा नेतृत्व में बदलाव आ सकता है। इसके अतिरिक्त, इस दौरान मतदाता अन्य उपायो से भी निश्चित मुद्दो पर शासन को प्रभावित कर सकते है। इन उपायों के माध्यम हैं दबाव समूह तथा स्वैच्छिक संस्थाएं, जो सार्वजनिक अभियान चलाती है, प्रतिनिधियो तथा शासन के पदाधिकारियों से सपर्क स्थापित करती है तथा प्रदर्शनो आदि मे भाग लेती हैं। जन भावनाओं के निरतर सगठन और अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन तो सचार माध्यम है जिनका प्रभाव निर्णायक होता है।

35. लोकतंत्र में जनमत-संग्रह किन परिस्थितियों में कराना चाहिए ?

जब संविधान मे संशोधन करना हो[6] या जब कोई ऐसा विधेयक सामने हो जिसका गहरा प्रभाव सविधान पर पडता हो तो बहुत-से लोकतत्रों में निश्चित बहुमत के आधार पर जनमत-सग्रह कराने की व्यवस्था है। इसके पीछे तर्क यह है कि संविधान सभी लोगो की सपत्ति है, ससद सदस्यों अथवा तत्कालीन शासन की ही नहीं। इसलिए उसका समर्थन जनता से सीधे तौर पर लिया जाना चाहिए।

---

6 भारत मे संविधान सशोधन के लिए आवश्यक है कि ससद के दोनो सदनो मे सशोधन को दो-तिहाई सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो।

अन्य विधेयकों पर जनमत-संग्रह

नीति अथवा विधान-निर्माण संबंधी अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर जनमत-संग्रह विवादित विषय है। इसके पक्ष में कहा जाता है कि यह महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक विधि है जिसके द्वारा महत्वपूर्ण विषयों पर जनता अपना मत प्रत्यक्ष रूप से प्रकट कर सकती है। अन्यथा या तो उनकी अनदेखी हो जाएगी या फिर वे दल के चुनाव घोषणा-पत्र की सामान्य घोषणाओं में छुपे रहेंगे। इसके विरोध में तर्क यह दिया जाता है कि राजनीतिक निर्णय जिन विषयों पर करना होता है, वे प्रायः एक-दूसरे से जुड़े होते है (जैसे कराधान तथा सार्वजनिक व्यय)। इसलिए किसी एक विषय को दूसरो से अलग करके उस पर निर्णय उन लोगों से करवाना उचित नहीं जिनका अन्य सभी निर्णयों से कोई सबंध नहीं है। यह एक प्रकार से प्रतिनिधिक पद्धति पर अविश्वास का परिचायक है। इससे प्रतिनिधियों का दायित्व भाव बढ़ेगा नहीं, घटेगा।

कोई ठीक उत्तर नहीं

यह उन विषयो मे से है जिन पर ठीक या गलत का निर्णय सभव नहीं। इसमें भिन्न भिन्न लोकतंत्र अपनी अपनी राजनीतिक परपरा के अनुसार अलग अलग पद्धतिया अपनाएगे।

3

खुला एवं उत्तरदायी शासन

36. लोकतंत्र में खुले शासन का क्या महत्व है ?

लोकतत्र मे शासन खुला होना अनिवार्य है। यदि सरकार के कार्यकलाप के बारे मे ठीक ठीक सूचना नही होगी और उनके परिणामो का ज्ञान नही होगा तो शासन के लोक सेवको का उत्तरदायित्व निश्चित नही किया जा सकेगा। चुनाव के समय नागरिक भी समुचित निर्णय नही कर पाएगे। इसलिए सूचना पाना नागरिको का तथा नागरिको की ओर से सचार-माध्यमो का अधिकार समझना चाहिए। यह शासन की कृपा नही। आखिर शासन चलाने का व्यय तो मतदाताओ से ही आता है। इसलिए उनको मालूम होना चाहिए कि उस व्यय का क्या प्रतिफल उनको मिलता है और उनके नाम पर क्या कुछ किया जा रहा है। जनता को ये सब सूचनाए उपलब्ध कराने पर काफी खर्च आता है जिसकी आलोचना भी की जाती है, परतु इससे शासन की कुशलता पर अच्छा प्रभाव पडता है। अपव्यय सामने आ जाता है, भ्रष्टाचार मे झिझक होने लगती है और शासन के दोष समय रहते सुधारे जा सकते हैं। नागरिक स्वतत्रताओं की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है कि व्यक्तियों के बारे मे शासन तथा इसकी एजेंसिया जो व्यक्तिश फाइले तैयार करती हैं, उनका ज्ञान उन व्यक्तियों को हो।

खुले शासन के विभिन्न पहलू

खुले शासन का ठीक ठीक क्या अभिप्राय है ? खुले शासन के चार पक्ष होते है। पहला तो यह कि शासन अपनी नीतियो के बारे में तथ्यात्मक सूचना उपलब्ध कराता है। वह नीतिया किस आधार पर बनी है, उनका व्यावहारिक परिणाम क्या होगा, उन पर कितना व्यय होगा, उनको किन नियमों के अनुसार क्रियान्वित किया जाएगा, इत्यादि। दूसरे, शासन के दस्तावेजों तक प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रेस की पहुच,

प्रत्यक्ष रूप से भी और संसद के माध्यम से परोक्ष रूप में भी। इसमें व्यक्तियों से संबंधित व्यक्तिशः फाइलें भी शामिल हैं। तीसरा है बैठकों, सम्मेलनों आदि का जनता और प्रेस के लिए खुला रहना। संसद तथा इसकी कमेटियों की बैठकों से लेकर सार्वजनिक वित्त से चलने वाली एजेंसियों की कार्यवाही, तथा स्थानीय शासन की बैठकों की कार्यवाही सब जनता तथा प्रेस के सामने आनी चाहिए। चौथा पक्ष यह है कि नीति-निर्धारण तथा उसके कार्यान्वयन के समय उन लोगों के साथ व्यवस्थित विचार-विनिमय जिन पर इनका प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार प्राप्त सूचना तथा परामर्श का सार्वजनिक प्रसारण।

उचित अपवाद

खुले शासन के सिद्धांत में कुछ अपवाद भी है। लोकतंत्र में कुछ सूचनाएं उचित रूप से गोपनीय मानी जाती है। जैसे मंत्रिमंडल मे हुआ विचार-विमर्श, प्रशासन के अधिकारियो द्वारा मंत्रियों को दिया गया परामर्श, ऐसी सूचना जिसके प्रसारण से राष्ट्रीय सुरक्षा, लोकतात्रिक प्रणाली की सुरक्षा अथवा किन्हीं व्यक्तियों के जीवन की सुरक्षा को धक्का लगे। निजी व्यापार संस्थानों के व्यापार के अंदरूनी भेद और व्यक्तिशः फाइलें (संबधित व्यक्तियों को छोड़कर अन्य लोगों को दिखाना) भी इस श्रेणी में आते हैं।

37. खुले शासन की सुरक्षा कैसे की जाए ?

बीसवीं शताब्दी से पूर्व जब शासन का कार्य सीमित होता था तो खुले शासन का अभिप्राय मात्र प्रेस की स्वतंत्रता समझा जाता था। आजकल शासन का कार्य बहुत अधिक जटिल और व्यापक हो गया है। इस परिस्थिति में प्रेस की स्वतंत्रता की कड़ी से कड़ी गारंटी, जिसमें पत्रकारों को अपने सूत्र गुप्त रखने की भी आजादी हो, अपने आप में पर्याप्त नहीं है। वर्तमान शासनो तथा उनकी अफसरशाही का प्रमुख रवैया यह हो गया है कि वे अपने कार्यकलाप को गोपनीय रखते हैं ताकि गलती या दुराचरण पर पर्दा पड़ा रहे और कोई परेशानी न उठानी पड़े। इस प्रवृत्ति के पीछे यह धारणा भी रहती है कि हम सर्वज्ञ हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने का एक ही उपाय है कि खुले शासन अथवा 'सूचना पाने के स्वतंत्र अधिकार' को कानून का रूप दे दिया जाए।

सूचना पाने की स्वतत्रता

सूचना पाने की स्वतंत्रता के लिए नमूने का विधेयक, 'सर्वोत्तम व्यवहार' का

मानदंड, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्वीडन ने प्रस्तुत किया है। इसके पूर्व (देखिए प्रश्न 36) जिन प्रमुख क्षेत्रों का वर्णन किया गया है, वे सब इसमे शामिल है। जैसे, शासन द्वारा सूचना की उपलब्धि, दस्तावेज देखने का सार्वजनिक अधिकार, सार्वजनिक सस्थानों की बैठको की खुली कार्यवाही तथा उन लोगो की सुरक्षा जो शामन की सेवा में रहते हुए शामन के दुराचरण या अवैधानिक आचरण की 'पोल' खोल रहे हो। इस प्रकार का विधेयक उन विधियो का पूरक समझा जाना चाहिए जिनके द्वारा संसद या विधायिका को कार्यपालिका की जांच-पडताल का अधिकार दिया जाता है। इसका विशेष महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि सूचना प्रसारण मे अपवाद (राष्ट्रीय सुरक्षा, निजता की रक्षा आदि) किसको माना जाए, इसका निर्णय शासन नहीं करता, न्यायालय करता है।

जनसंपर्क पर व्यय

इस संदर्भ मे दो अन्य बातो का जिक्र भी आवश्यक है। पहली तो यह कि आधुनिक शासनो के बजट में 'जनसपर्क' का खाता बहुत विशाल होता है। जनसंपर्क में केवल सरकारी नीति के विषय मे तथ्यात्मक सूचनाएं उपलब्ध कराना मात्र नहीं आता। इसके अनेक रूप हैं जिनके द्वारा लोकमत को शासन के पक्ष में किया जा सकता है। जैसे, सूचना कब और किस रूप मे दी जाए। चयनात्मक रूप से खबरों का सुराग देकर तथा जनसपर्क को अन्य ऐसे ही उपाय अपनाकर जनमानस को अनुकूल बनाया जाता है। इस तरह के कार्यव्यवहारों के कारण इस बात का महत्व और भी अधिक हो जाता है कि सूचना-प्राप्ति की तथा उसे परखने की स्वतंत्रता की गारंटी हो। इसके लिए आवश्यक है कि शासन के नियंत्रण से बाहर एक सार्वजनिक सांख्यिकीय सेवा स्थापित की जाए जिसका उपयोग शासन, संसद और सामान्य जन समान रूप से कर सके।

सार्वजनिक परामर्श

अंत में यह समझ लेना चाहिए कि खुले शासन की अवधारणा मात्र सूचना-प्राप्ति की स्वतंत्रता से कहीं अधिक व्यापक है। इसमें यह भी शामिल है कि मंत्रियों को सार्वजनिक बहस में अपनी नीतियों का समर्थन करने के लिए बुलाया जा सके और यह भी कि शासन नीति-निर्धारण और उसके कार्यान्वयन मे सार्वजनिक परामर्श के लिए कहां तक प्रतिबद्ध है। सार्वजनिक परामर्श का अर्थ है परामर्श के लिए समय की सुनिश्चित सीमा तथा कार्यविधियां, संबंधित लोगों से लिए गए साक्ष्य का प्रकाशन, पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव का आकलन इत्यादि। इस प्रकार

'खुलेपन' का अभिप्राय यह है कि शासन दूसरों के विचार सुनने को तैयार रहे और साथ ही, ठीक ठीक सूचना भी लोगो को उपलब्ध कराए।

38. उत्तरदायी शासन का क्या अर्थ है ?

उत्तरदायी शासन के तीन प्रमुख आयाम है।

कानूनी उत्तरदायित्व

सबसे पहला आयाम है कानूनी उत्तरदायित्व अर्थात शासन के सभी पदाधिकारी, भले ही निर्वाचित हों या गैर-निर्वाचित, अपने कार्यो का कानूनी औचित्य साबित करने के लिए प्रतिबद्ध है। 'कानून का शासन' कहने का यही अभिप्राय है कि जो लोग कानून और नीतियों का निर्धारण और उनको कार्यान्वित करते हैं, वे स्वयं भी कानून और संविधान के अनुसार कार्य करे और कानून मे सत्ता की जो परिभाषा की गई है और उसकी जो सीमा निश्चित है, उसका समुचित आदर करे।

राजनीतिक उत्तरदायित्व

दूसरा आयाम है राजनीतिक उत्तरदायित्व। इसके अनुसार शासन अथवा कार्यपालिका का यह उत्तरदायित्व है कि वह ससद तथा जनता के समक्ष अपनी नीतियों, प्राथमिकताओं तथा उनके कार्यान्वयन का औचित्य साबित करे। कानूनी दायित्व का निर्वाह सीधा और सरल है और पदाधिकारियों तथा न्यायालय के बीच निपट जाता है। राजनीतिक उत्तरदायित्व इसके मुकाबले जटिल है। राष्ट्रीय स्तर पर शासन की गैर निर्वाचित एजेंसियां (सिविल सेवा, सशस्त्र सेनाएं, पुलिस, सुरक्षा सेवाएं) कार्यपालिका के निर्वाचित प्रमुख के समक्ष उत्तरदायी होती हैं और उसी के द्वारा मनोनीत मंत्रियो के अधीन काम करती हैं। प्रमुख कार्यकारी तथा मंत्रियो के दायित्व दो प्रकार के हैं। एक तो प्रत्यक्ष रूप से अर्थात चुनाव के समय जनता के सामने उत्तरदायी होना पडता है। दूसरे परोक्ष रूप से अर्थात जनता की प्रतिनिधि संसद अथवा विधायिका के सामने उत्तरदायित्व। विधायिका के सदस्य अपने अपने मतदाताओं के सामने भी उत्तरदायी होते हैं।

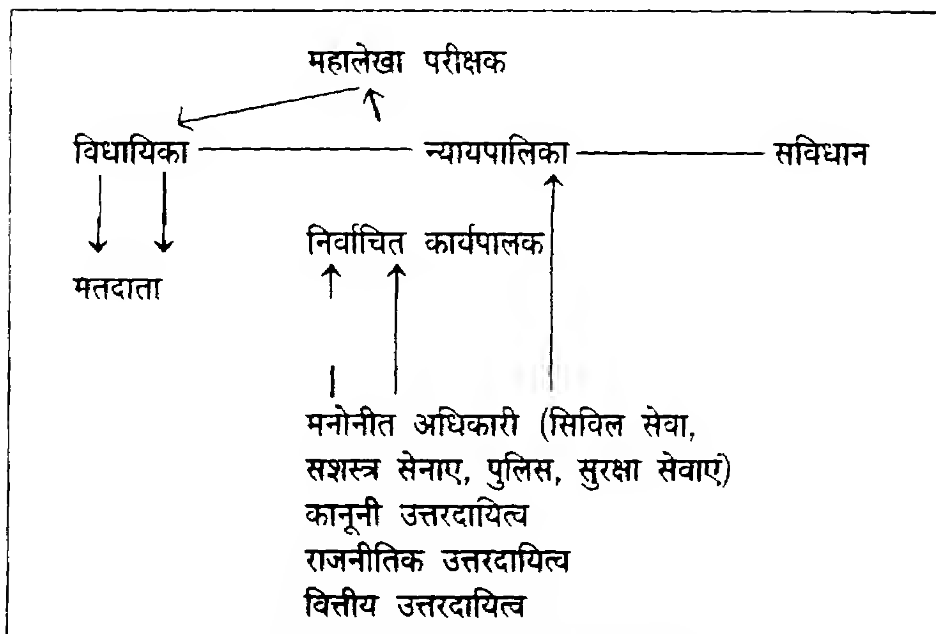
वित्तीय उत्तरदायित्व

यह तीसरा आयाम कुछ संकीर्ण है। इसके अनुसार शासन पर यह दायित्व है कि कराधान से जो आय होती है, उसका व्यय केवल उन कामों के लिए करे जिनकी

अनुमति विधायिका ने दे रखी हो और ध्यान रखे कि उस व्यय का अधिक से अधिक लाभ मिले। इस दायित्व के पालन की विधि वही है जो राजनीतिक दायित्व के पालन की है। यहा केवल महालेखा परीक्षक का पद और जुड़ जाता है। यह अधिकारी सीधे ससद के सामने उत्तरदायी होता है, किंतु शासन द्वारा किए गए व्यय की जाच-पडताल के काम में यह संसद से भी स्वाधीन रहता है।

उत्तरदायित्व तथा सार्वजनिक नियंत्रण

उत्तरदायित्व-पालन की विभिन्न सरणियो का निरूपण नीचे चित्र-2 मे किया गया है



चित्र 2 उत्तरदायित्व-पालन की सरणिया

इनमें से प्रत्येक सरणि अपने अपने ढंग से शासन पर सार्वजनिक नियंत्रण के लोकतांत्रिक सिद्धांत की पूर्ति करती है। परतु उल्लेखनीय बात यह है कि वित्तीय तथा कानूनी उत्तरदायित्वों का पालन सबसे अच्छी तरह वृत्तिक संस्थानों द्वारा सुनिश्चित रहता है जो प्रत्यक्ष सार्वजनिक अथवा राजनीतिक प्रभाव से काफी हद तक मुक्त हो। उनकी प्रतिबद्धता केवल अपने अपने वृत्तिक आचार-नियमों के प्रति होती है। परंतु राजनीतिक उत्तरदायित्व ही सबके ऊपर है, क्योंकि न्यायालय जिस कानून का पालन करते हैं और महालेखापरीक्षक द्वारा जिस व्यय की जाच-पड़ताल होती है, वह पारित तो निर्वाचित संसद ही करती है और संसद

संविधान के अंतर्गत काम करती है।

39. सत्ता के बंटवारे की क्या महत्ता है ?

लोकतंत्रीय शासन की तीन शाखाए होती हैं। एक कार्यपालिका जिसे सरल रूप से प्रशासन भी कहते हैं। इसका दायित्व है नीति-निर्धारण तथा उसे कार्यान्वित करना। दूसरी, विधायिका जिसे संसद, प्रतिनिधि सभा या राष्ट्रीय सभा भी कहा जाता है। इसका काम है कानून बनाने और कर लगाने की अनुमति प्रदान करना तथा कार्यपालिका पर नजर रखना। तीसरी, न्यायपालिका (अथवा न्यायालय) जो देखती है कि कानून का समुचित पालन हो। इसके द्वारा निर्णय होता है कि कानून का अतिक्रमण तो नहीं हुआ और यदि हुआ हो तो इस अपराध के लिए दंड दिया जाता है। इन तीन शाखाओ में सत्ता का विभाजन ऊपर बताए गए दायित्वो (देखिए प्रश्न 38) के समुचित निर्वाह के लिए आवश्यक समझा जाता है। यदि न्यायालय विधायिका और कार्यपालिका से आजाद न हों तो वे निर्भीक होकर तथा निष्पक्ष रूप से निर्णय नहीं कर सकते कि लोक सेवक कानून के अनुसार काम कर रहे हैं या नहीं। इसी प्रकार यदि संसद को कानून बनाने तथा कर लगाने के लिए अनुमति देने या न देने का निर्बाध अधिकार न हो तो मतदाताओं के प्रति शासन की प्रतिबद्धता में गंभीर शिथिलता आ जाएगी।

विभिन्न प्रणालियां

कार्यपालिका तथा विधायिका के अधिकार यद्यपि सभी लोकतंत्रीय शासनो में अलग अलग रखे जाते हैं परंतु इनके बंटवारे की व्यवस्था विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों में भिन्न प्रकार से रहती है। सबसे अधिक स्पष्ट बंटवारा राष्ट्रपति प्रणाली में होता है, क्योंकि उसमें प्रमुख कार्यपालक का चुनाव विधायिका के चुनाव से अलग होता है और उसका विधायिका में कोई स्थान भी नहीं होता। इसके विपरीत, प्रधानमंत्री प्रणाली में प्रमुख कार्यपालक का दखल दोनों शाखाओ में रहता है। उसका चुनाव संसदीय बहुमत के आधार पर होता है। इसलिए वह कार्यपालिका प्रमुख के रूप में भी काम करता है और संसद में बहुमत का नेता भी होता है।

राष्ट्रपति प्रणाली

प्रत्येक प्रणाली के अपने अपने गुण और दोष हैं। राष्ट्रपति प्रणाली का विशेष लाभ यह है कि इसके अंतर्गत विधायिका को कार्यपालिका पर नियंत्रण की काफी अधिक आजादी रहती है। अलबत्ता यह आजादी इस पर निर्भर करेगी कि राजनीतिक दल

किस हद तक संगठित है और दोनों शाखाओं में दलीय नियंत्रण कहा तक संतुलित है। इसके अंतर्गत शासन के हाथ बंधे रहते है। इसे 'जाल बद' शासन भी कहा जाता है। कार्यपालिका का चुनाव तो सीधा होता है परंतु वह जिन नीतियों के आधार पर चुनी गई है उनके अनुसार कानून बनाने और कर लगाने के लिए वह पूरी तरह सक्षम नहीं होती। यह मतभेद चरम सीमा छूने लगे तो ऐसी स्थिति पैदा हो सकती है जिसमें वह अपने प्रत्यक्ष निर्वाचन में निहित अधिकार का प्रयोग करके, सेना की सहायता लेकर अथवा जनमत-सग्रह के मार्ग से विधायिका को अधिकार च्युत कर दे।

संसद तथा कार्यपालिका

प्रधानमत्री प्रणाली का लाभ यह है कि इसमे कार्यपालिका की नीति और आवश्यक विधान-निर्माण तथा कराधान में तालमेल अधिक अच्छा रहता है। कार्यपालिका द्वारा संसद को अधिकार च्युत करने की संभावना भी इस प्रणाली मे कम होती है। जिन देशों में लोकतंत्र प्रणाली नई नई है वहा यह सभावना अधिक दिखाई देती है। इसका दुर्गुण यह है कि कार्यपालिका संसद की कार्यसूची तय करने में अधिक सक्षम होती है। संसद की जांच-पड़ताल की भूमिका भी सीमित हो जाती है, क्योंकि संसद में बहुमत को शासन के दोष जनता के सामने लाने मे कम दिलचस्पी होती है। बहुमत के सदस्यो के अपने स्थान और भावी तरक्की भी तो इस विश्वसनीयता के साथ जुड़ी होती हैं।

40. कानून का शासन किसे कहते हैं ? इसकी गारंटी कैसे की जा सकती है ?

कानून के शासन का सीधा-सादा सिद्धांत यह है कि राज्य के सभी अधिकारी, चाहे वे निर्वाचित हों या अनिर्वाचित, कानून और संविधान के अनुसार कार्य करे। अर्थात कानून में जो अधिकार उनको दिए गए है और जो सीमाएं बांधी गई हैं, उनका उल्लंघन न करें। (प्रश्न-38 में देखिए कानूनी उत्तरदायित्व)। यह सिद्धात अरस्तू ने अपने इस कथन में प्रतिपादित किया है कि 'सर्वोत्तम शासन वह है जो कानून का शासन हो, व्यक्ति का नहीं।' इस सिद्धात का आधुनिक रूप राजा तथा उसके अधिकारियो के स्वेच्छाचार पर नियंत्रण के लिए संघर्ष के फलस्वरूप उभरा है। इसके अनुसार कार्यपालिका वही काम कर सकती है जिसका अधिकार कानून उसे प्रदान करता है।

लोकतंत्र और कानून का शासन

कानून का शासन व्यक्तिगत स्वाधीनता और लोकतत्र की बुनियाद है। यह न हो तो कार्यपालिका से व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा संभव नही। कानून का आधार लोकतांत्रिक सविधान तथा निर्वाचित विधायिका होते है। इसलिए लोकतंत्र मे आवश्यक है कि कार्यपालिका इसके अनुसार चले। जाब्ते तथा कानून का अतिक्रमण, भले ही 'राष्ट्रीय हित' के आधार पर या तत्काल सार्वजनिक मांग के दबाव मे किया जाए, अलोकतांत्रिक ही माना जाएगा।

न्यायपालिका की स्वाधीनता

कानून का शासन उसी हद तक प्रभावकारी होगा जहां तक उसका पालन कराने वाली न्यायपालिका स्वाधीन होगी। न्यायपालिका के सबध मे संयुक्त राष्ट्र संघ-के बुनियादी सिद्धातो की धारा 1 मे कहा गया है, "राज्य न्यायपालिका की स्वाधीनंता सुनिश्चित (गारंटी) करेगा तथा इस स्वाधीनता को देश के सविधान तथा कानून-व्यवस्था का अग बनाया जाएगा।" इस स्वाधीनता के समष्टिगत तथा व्यष्टिगत, दोनो पक्ष है। पहले के अनुसार न्यायपालिका समष्टि रूप से कार्यपालिका के दखल से मुक्त रहती है। दूसरे का अभिप्राय है न्यायाधीशो की निर्भीक तथा निष्पक्ष रूप से अपना कर्तव्य निभाने की स्वाधीनता। इन दोनों स्वाधीनताओ को सुनिश्चित करने के लिए सवैधानिक प्रावधान से कुछ अधिक गारटी की आवश्यकता है। यह इस पर भी निर्भर करता है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति किस विधि से होती है और उनका कार्यकाल कहां तक सुरक्षित है। नियुक्तिया प्रशासन अथवा कार्यपालिका के हाथ मे नहीं होनी चाहिए। इसका जिम्मा या तो संसद की न्याय समिति का होना चाहिए या फिर इसके लिए सविधान के अंतर्गत स्वाधीन न्यायिक सेवा समिति (या आयोग) स्थापित की जानी चाहिए। इसी प्रकार न्यायाधीशो की बरखास्तगी का अधिकार भी तत्कालीन शासन को नही होना चाहिए। उनका कार्यकाल सुरक्षित होना चाहिए। उनको पदच्युत करने की विधि नियुक्ति करने वाला अधिकारण ही बनाए। और उन्हें पदच्युत करना भी भ्रष्टाचार, भीषण दुराचार अथवा कर्तव्य की अवहेलना आदि निश्चित सीमित आधारो पर ही होना चाहिए। ये बातें कानूनी व्यवसाय की अन्य सभी शाखाओ पर भी लागू होनी चाहिए जिनको कार्यपालिका से स्वाधीन रखना कानून के शासन का तकाजा है।

41. शासन का उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने में संसद या विधायिका का क्या योगदान है ?

कार्यपालिका के राजनीतिक तथा वित्तीय उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने मे ससद की मूलगामी भूमिका रहती है। इस भूमिका का एक पक्ष तो यह है कि इसको विधान-निर्माण तथा कराधान की अनुमति देने या न देने का अधिकार है। दूसरा पक्ष वह कार्यविधि है जिसके अनुसार कोई कानून बनाने से पहले उसका पूरा पूरा परीक्षण होता है तथा उस पर बहस होती है। इसके अतिरिक्त ससद को कार्यपालिका के काम की जाच करने का भी अधिकार होता है। मंत्रियों से प्रश्न पूछे जा सकते है, दस्तावेजो का परीक्षण किया जा मकता है तथा प्रशासन के अधिकारियो से पूछताछ की जा सकती है। यह काम ससद की सामूहिक बैठक मे भी होते हैं और समितियो के गठन द्वारा भी।

संसद का प्रभावकारी होना

शासन के उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने में ससद की प्रभावकारी भूमिका एक हद तक इस पर निर्भर करती है कि ससद के सदस्य व्यक्तिगत रूप मे कितने स्वाधीन मन से काम करते है। परपरागत रूप से यह काफी समझा जाता था कि सदस्य ससद मे जो कुछ कहे, वह कानून की पकड से मुक्त हो ताकि वह अपने मन की बात निर्भीक होकर कह सके। आजकल शासन कार्य इतना जटिल हो गया है कि प्रतिनिधि प्रभावकारी ढग से आलोचना तभी कर सकते हैं यदि उनको शोध तथा कार्यालय की पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध हो और वह बाहर के विशेषज्ञो की सहायता प्राप्त कर सके। प्रतिनिधि अपने दल के विचारों से भी इतने बधे न हो कि उनकी अपनी आलोचना एव विचार-शक्ति ही कुंठित हो जाए। यदि वे अपने चुनाव अथवा विशेष समितियो मे मनोनीत होने के लिए दल के उच्चाधिकारियों पर निर्भर हो तो वे दल की नीति से प्राय· इधर-उधर नही होते।

विरोधी पक्ष की भूमिका

शासन की जांच-पड़ताल मे सगठित दल व्यवस्था की भूमिका को अनदेखा नहीं करना चाहिए। अधिकृत विरोधी पक्ष का काम केवल यही नहीं कि वह विकल्पी शासन बनाने के लिए तैयार रहे। उसे शासन के कामकाज की निरंतर पड़ताल करते रहना चाहिए। बहुत-से लोग संसद के काम के इस पक्ष को सबसे कम आकर्षक पक्ष मानते हैं क्योंकि इससे आभास यह मिलता है कि विरोधी पक्ष शासन के किसी भी कार्य की आलोचना उसका गुण-दोष परखे बिना केवल विरोध के लिए करता

है। यदि ब्रिटेन की विरोधात्मक प्रणाली तथा इसके अनुकरण मे स्थापित अन्य संसदों को देखा जाए तो यह आभास निराधार भी नहीं। लेकिन जिस प्रकार आधुनिक शासन अत्यधिक व्यवस्थित है, वैसी ही व्यवस्थित इसकी जांच भी होनी चाहिए। यह दायित्व विशेष रूप से उन दलों पर आता है जो शासक दल के समर्थक नहीं हैं। वे निर्भीक होकर शासन की आलोचना कर सकते है और उनकी देशभक्ति पर उंगली भी नहीं उठाई जा सकती।

42. क्या कोई भी व्यक्ति संसद का सदस्य बन सकता है ?

प्रतिनिधियों का चुनाव इस आधार पर नहीं किया जाता कि उनको किसी विषय में विशेषज्ञता प्राप्त है। हम उनको इस विश्वास के आधार पर चुनते हैं कि वे ईमानदारी से अपने मतदाताओ के हितो की रक्षा करेंगे, शासन के कार्यो तथा प्रस्तावों की सुचारु जाच करेंगे और उन कार्यक्रमों को आगे बढाएगे जिनके आधार पर उनको चुना गया है। कोई भी सामान्य समझ रखने वाला, ईमानदार, व्यवस्थित तथा अभिव्यक्तिक्षम व्यक्ति यह काम कर सकता है भले ही, वह जीवन की किसी भी धारा से आया हो। एक बार चुने जाने के पश्चात प्रतिनिधियों को अपना कर्तव्य निभाने के लिए पर्याप्त समय और साधन उपलब्ध हो जाते हैं। समय बीतने के साथ वे अनुभवी भी हो जाते हैं। चुनावी उत्तरदायित्व की बुनियादी शर्त यह है कि चुनाव की आजीवन गारटी नहीं हो सकती।

व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा

प्रतिनिधि बन तो बहुत लोग सकते हैं परतु बनते बहुत कम हैं। प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का मार्ग बहुत लंबा और कठिन है। इसके लिए किसी प्रस्थापित राजनीतिक दल की सदस्यता लगभग अनिवार्य है। कुछ वर्ष उस दल के लिए कार्य भी करना होता है। प्रायः स्थानीय अथवा निचले राष्ट्रीय स्तर पर निर्वाचित पद संभालने का अनुभव भी जरूरी होता है। तत्पश्चात दल के चुनाव बोर्ड या समिति को अन्य प्रत्याशियों के मुकाबले अपनी उपयोगिता का आश्वासन भी दिलाना होता है। कई बार जीतने-योग्य चुनाव-क्षेत्र पाने या दल की सूची में स्थान पाने के लिए एक-दो चुनावों में असफलता का मुंह भी देखना पड़ता है। यह सब करने के बाद यह भी हो सकता है कि समय दल के अनुकूल न हो। इस प्रकार प्रतिनिधि बनने के लिए दृढ़ संकल्प तथा भाग्य, दोनों ही आवश्यक हैं। इस मार्ग पर वे चल सकते हैं जिनको सार्वजनिक कार्य में गहरी रुचि हो और जो वक्त-बेवक्त काम करने के लिए तैयार हों।

43. क्या निर्वाचित प्रतिनिधियों को अन्य वैतनिक पेशा अपनाने का अधिकार होना चाहिए ?

यह अधिकार दिए जाने के पक्ष मे अनेक तर्क दिए जाते हैं। पहला तो यह कि ससद का काम सारे साल पूरा समय नहीं मांगता। दूसरे, संसदीय आय को देखते हुए उच्च प्रतिभावान व्यक्तियों को इस ओर आकर्षित नहीं किया जा सकता। तीसरे यह कि अन्य धधा करके सदस्यों को जीवन की वास्तविकता का अनुभव होगा। परंतु इनमे से कोई भी तर्क इस पक्ष का औचित्य साबित नही करता। यह तो सही है कि ससद की बैठक सारे साल नही चलती लेकिन इसका काम तो निरतर चलता ही रहता है और उस पर ध्यान देना आवश्यक है और उसके लिए पूरा समय चाहिए। मतदाताओं को भी ऐसी ही आशा रखनी चाहिए तथा इस पूरे उत्तरदायित्व को समुचित रूप से निभाने के लिए उपयुक्त वेतन तथा सुविधाओ की कीमत देने को तैयार होना चाहिए। जीवन की वास्तविकता पहचानने की एकमात्र विधि यह है कि प्रतिनिधि अपने क्षेत्र के मतदाताओ से निरंतर सपर्क रखे और उनकी बात सुनें।

वर्ग हित

क्या यह उचित होगा कि ससद के अतिरिक्त अन्य सगठन या सस्थान अपने हितों का प्रतिनिधत्व कराने के लिए सदस्यो को फीस दे ? यह प्रथा प्रचलित तो कई देशों मे है परतु इसे उचित नही माना जा सकता[7]। यदि कोई विशेष समूह राष्ट्रीय स्तर पर अपने हित साधन के लिए किन्हीं सदस्यो को धन देता है तो यह मानना कठिन है कि वे सदस्य अपने मतदाताओं के हित का समुचित प्रतिनिधित्व कर पाएगे। ऐसी राशि दर्ज करने का रजिस्टर रखने की बजाय इस पर पूर्णतया रोक लगाना अधिक कारगर है।

पदच्युत करना

प्रतिनिधि पद की एक विलक्षणता यह है कि मतदाता उसे उस पद से कभी भी एकाएक हटा देते हैं। और इसका कारण अनिवार्यतया उस प्रतिनिधि का व्यक्तिगत दोष नहीं होता। होता प्रायः यह है कि उसके दल का नेता और कार्यक्रम लोकप्रिय नहीं रहते। वास्तव में, यह वैसा ही है जैसा कि निजी उद्योग के कर्मियो के साथ

---

7 भारतीय प्रणाली मे इस प्रकार धन लेना भ्रष्टाचार माना जाता है।

होता है। वहां भी उनको इसलिए हटा दिया जाता है कि बाजार की स्थिति में परिवर्तन के कारण उनकी आवश्यकता नहीं रही। दोनों प्रकार के कर्मियों को पदच्युत होने पर पर्याप्त छटनी धन मिलना चाहिए। ताकि वे कोई दूसरा व्यवसाय ढूढ़ सकें। यह राशि उनके कार्यकाल के अनुपात से तय होनी चाहिए। उनकी पेंशन हस्तांतरणीय होनी चाहिए।[8]

44. राजनीतिक भ्रष्टाचार को कैसे समाप्त किया जाए ?

राजनीतिक भ्रष्टाचार का अभिप्राय है निजी लाभ के लिए सार्वजनिक पद का दुरुपयोग। यह शासन के किसी भी स्तर पर और किसी भी राजनीतिक प्रणाली मे हो सकता है। कुछ लोकतत्रों मे इसको 'पदेन आय' मानकर अनदेखा कर दिया जाता है। और यह मान लिया जाता है कि शासन से ठेके या व्यापार लाइसेंस प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा मे ऐसा होता ही है। लेकिन इससे प्रतिनिधि और मतदाताओं के बीच विश्वास का रिश्ता टूट जाता है और लोकतात्रिक प्रक्रिया पर भरोसा कम होने लगता है। स्थिति यहां तक भी पहुंच सकती है कि लोग लोकतत्र को रक्षा करने योग्य ही समझना बद कर दे। इस कारण इस पर गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। यदि इसे सर्वथा समाप्त करना संभव न भी हो तो इसे कम-से-कम करने के उपाय अवश्य करने चाहिए।

सुधारात्मक उपाय

राजनीतिक भ्रष्टाचार निम्नलिखित परिस्थितियों में फैलता है। जहां राजनीतिक पद का वेतन बहुत कम या अपर्याप्त हो या फिर सामाजिक जीवन में समुचित आय का वही एकमात्र साधन हो; जहां निजी क्षेत्र मे आर्थिक लाभ के अवसर शासन के स्वेच्छा-निर्णय से जुडे हों और बात खुलने तथा दंडित होने की संभावनाएं कम हों। इनमें से प्रत्येक परिस्थिति के लिए अलग अलग उपचार हैं। सार्वजनिक अधिकारियो को अच्छा वेतन दिया जाए यद्यपि यह वेतन अन्य धंधो में मिलने वाले वेतन के मुकाबले बहुत अधिक न हो। निजी आर्थिक मामलों पर सभी निर्णय निश्चित नियम तथा विधि-विधान के अनुसार किए जाएं। शासन पारदर्शी हो और जहां अवैध क्रिया का संदेह हो, उसकी निर्भीक न्यायिक जांच की जाए। भ्रष्टाचार दूर करने का सबसे अच्छा उपाय तो यह है कि निष्काम सार्वजनिक सेवा की संस्कृति

---

8 भारत में ससद तथा राज्य विधान सभाओं के सदस्यों को रिटायर होने पर उस अनुपात से पेंशन मिलती है जितने वर्ष वे उस संस्था के सदस्य रहे हों।

और परपरा का विकास किया जाए और उसमे स्वार्थ-सिद्धि को सर्वोपरि मानने की मानसिकता के प्रभाव को कम किया जाए। जहा समस्या पुरानी और गहरी हो वहां इनमें से कोई भी उपाय आसान नहीं। अंतिम उपाय तो सबसे ही कठिन है।

45. लोकतंत्र में सिविल सेवा की भूमिका क्या रहती है ?

कोई भी शासन अपना दैनंदिन काम सिविल सेवा के अनिर्वाचित पदाधिकारियों द्वारा चलाता है। यही स्थायी प्रशासन होता है। इसी सेवा से नीति-निर्धारण और कानून बनाने के लिए विशेषज्ञ परामर्श प्राप्त होता है और उनके क्रियान्वित करने का प्रशासनिक ढांचा भी यही है। शासन किसी भी दल अथवा दल-समूह के हाथ मे हो और इस सेवा के अधिकारी व्यक्तिगत रूप से शासन के साथ सहमत हो या न हों, अपेक्षा यह की जाती है कि वे अपना कर्तव्य ईमानदारी और निष्पक्षता से निभाएंगे। यद्यपि वृत्तिक नागरिक सेवा आजकल सभी शासन प्रणालियो का अग बन चुकी है, परंतु लोकतत्र मे सिविल सेवा के आयोजन में कुछ विशेष समस्याएं सामने आती है। जैसे, सिविल सेवाओ के उच्चाधिकारियों की भरती किस विधि से हो, ये अधिकारी किसके सामने उत्तरदायी हो और उनकी नियुक्ति का क्या तरीका अपनाया जाए।

राजनीतिक नियुक्तियां

पहली समस्या जो राजनीतिक दलो मे चिता का विषय होती है और दलों के अदर प्राय उठाई जाती है, यह है कि सिविल सेवा के कुछ उच्चतर अधिकारी यदि शासक दल की नीतियो के प्रति प्रतिबद्ध न हो तो वे उस नीति को क्रियान्वित करने मे अडचन पैदा कर सकते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि विशेष ज्ञान पर इजारेदारी के कारण वे मत्रियो को दोषपूर्ण परामर्श दे दे और मंत्री उक्त विशेष ज्ञान के अभाव में उसको स्वीकार कर लें। यह चिता एक हद तक अतिशयोक्ति है। सिविल सेवा के अधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह नीति संबंधी प्रत्येक प्रस्ताव की उस पर संभावित विरोध तथा कार्यान्वयन की कठिनाइयों के आधार पर जांच करें और उन नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए रास्ता भी खोजे। उसकी इस कार्यवाही को अड़चन कहा जा सकता है। परतु यह भी सही है कि नीति पर सिविल सेवा का जबर्दस्त गैर-निर्वाचित प्रभाव रहता है और इस प्रभाव का उपयोग अलोकतात्रिक भी हो सकता है। स्थापित लोकतंत्र इस सभावना को कम करने के लिए दो उपाय करते हैं। एक तो यह कि प्रत्येक मत्रालय मे उच्चतम पद या पदों पर नियुक्ति राजनीतिक दृष्टि से ही की जाती है। जब जब निर्वाचित शासन बदलता है, इन

पदों के प्रभारी भी बदल दिए जाते है। दूसरा उपाय है प्रत्येक मंत्रालय में राजनीतिक अधिकारी की नियुक्ति जिसके कार्यालय में ऐसे विशेषज्ञ रखे जाएं जो शासक दल के समर्थक भी हों। ये लोग मंत्री को दूसरे प्रकार का विकल्प और सूचना उपलब्ध करा सकते हैं और अपने विशेष ज्ञान के आधार पर सिविल नागरिक सेवा के परामर्श की जांच भी कर सकते हैं। इनमें से कोई भी उपाय सर्वथा समस्यारहित तो नहीं परंतु इनके लाभ संभवतया हानि से अधिक हैं।

सिविल सेवा का उत्तरदायित्व

दूसरी समस्या सिविल सेवा के उत्तरदायित्व की है। इसका संगठन पद-सोपान के आधार पर होता है। नीचे का अधिकारी अपने से ऊपर वाले के सामने उत्तरदायी होता है और सर्वोच्च अधिकारी संबंधित मंत्री के सामने और मंत्री के माध्यम से संसद के सामने। परतु क्या लोकतंत्र में ऐसी परिस्थितिया नहीं आतीं जब सिविल सेवाधिकारी की जिम्मेदारी सीधे कानून, संसद अथवा सामान्य जन के प्रति हो ? यदि उनको दी गयी आज्ञा के पालन से कानून की अवज्ञा होती हो तो वे क्या करें ? या फिर उन लोगों के अधिकारो का अतिक्रमण होता हो, जिनकी सेवा उनसे अभीष्ट है ? ये उदाहरण है उस स्पष्ट विरोध के जो अधिकारी-वर्ग के तथा उत्तरदायित्व लोकतांत्रिक सिद्धांतो के बीच उभरता है। व्यवहार मे, सिविल सेवाधिकारी इस विरोध का समाधान अनौपचारिक रूप से सूचना का भेद देकर करते हैं। यह एक प्रमुख कारण है 'पोल खोलने वालों' को सुरक्षा प्रदान करने के महत्व का। (देखिए प्रश्न 37)

लोक सेवकों की भरती

लोकतंत्र में सिविल सेवा संबंधी अंतिम समस्या भरती की है। भरती किए जाने वालों की गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए उन लोगों में से चुनकर भरती की जाती है जो उच्च शिक्षा प्राप्त हों या जिन्होंने व्यवसाय विशेष में प्रशिक्षण या विशेषज्ञता प्राप्त की हो। भरती में दल संबंध का ध्यान नहीं रखा जाता। इससे मानसिक निरपेक्षता तो सुनिश्चित हो जाती है परंतु यह निश्चित नहीं होता कि वे समाज के प्रति भी निरपेक्ष सिद्ध न हों। लोकतंत्र में लोक सेवा में समाज के सभी घटकों का समुचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए और वह दिखाई भी देना चाहिए। राजनीतिक समता के सिद्धांत का भी यही तकाजा है कि लोक सेवा में भरती का द्वार सबके लिए खुला हो, भले ही किसी का संबंध किसी भी सामाजिक घटक से हो। इसका अर्थ यह है कि शिक्षा-प्रणाली तथा सिविल सेवा में भरती दोनों में भेदभावमुक्त समान-अवसर की नीति पर अमल किया जाए।

46. उत्तरदायी शासन के निर्माण में एक व्यक्ति का क्या योगदान हो सकता है ?

यदि सरकारी अधिकारी गैर कानूनी निर्णयों अथवा कुशासन (अवहेलना, विलंब, स्वेच्छाचारिता आदि) द्वारा नागरिकों के हितों पर कुठाराघात करे तो लोकतांत्रिक प्रणाली में नागरिक उस अन्याय का समाधान अनेक विधियों से प्राप्त कर सकते हैं। कानून द्वारा परिभाषित शासकीय शक्तियों का उल्लंघन करके लिए गए निर्णयों पर न्याय न्यायालयों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कुशासनपरक अन्याय का सुधार उस क्षेत्र से चुने गए प्रतिनिधि को अपील करके कराया जा सकता है या फिर ओम्बुड्समैन (लोकपाल) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी विशेष जिम्मेदारी यही है कि कार्यपालिका के निर्णयों के विरुद्ध व्यक्तिमत शिकायतों के औचित्य की जाच करे। पिछले कुछ समय में 'नागरिकों के चार्टर' नामक संस्था का विकास हुआ है जिसके अनुसार यदि शासकीय सेवा सुनिश्चित मानदंड के अनुसार सेवा उपलब्ध कराने मे असफल रहे तो लोग उसकी भरपाई प्राप्त कर सकते है। इन सबको उपभोक्ता उत्तरदायित्व कहा जा सकता है जिसके लिए पहल का रूप व्यक्तिगत होता है। यह उत्तरदायित्व के उन सामूहिक रूपों से भिन्न है जिनकी चर्चा ऊपर (देखिए प्रश्न 38) की जा चुकी है। यह इस बात का महत्वपूर्ण स्मारक है कि सरकारी सेवाओ की प्रमुख ग्राहक सर्वसाधारण जनता है और सरकार के कानूनी, राजनीतिक एवं वित्तीय उत्तरदायित्व स्वयं नागरिको के प्रति ही है।

47. सशस्त्र बलों पर असैनिक नियंत्रण कैसे बनाए रखा जा सकता है ?

पुराने लोकतत्रों में राजनीतिक तथा सामरिक निर्णयो के बीच स्पष्ट और भली प्रकार रक्षित पार्थक्य है और उस पृथकता को सभी समझते है। इसीलिए वहां यह समस्या पैदा नहीं होती। हां, कभी कभी शस्त्र उपलब्ध कराने, उच्च स्तर की नियुक्तियो अथवा सशस्त्र सेना की सेवा-शर्तो के बारे में छोटे-मोटे मतभेद अवश्य उठ जाते हैं। परंतु यदि हाल में बने किसी लोकतंत्रों में बलात राज्य-परिवर्तन हुआ हो सेना का शासन रहा हो अथवा सेना ने शासन के अधिकारियो या नीतियों पर निषेधाधिकार जताया हो तो समस्या विकट हो सकती है। आखिर हर देश की सेना बाहुबल तथा संगठन की दृष्टि से इतनी सक्षम रहती है कि राजनीतिक नेताओं को अपदस्थ कर दे, शासन हस्तगत कर ले तथा जनता पर अपना शासन थोप दे। प्रश्न केवल यह है कि क्या सेना ऐसा करने की इच्छुक है, और उसे ऐसा करने से निरुत्साहित किस प्रकार किया जा सकता है।

बलात राजपरिवर्तन

सेना को निर्वाचित राजनीतिज्ञो के नियंत्रण में रखने की समस्या केवल यहीं तक सीमित नहीं कि उनको गैर-राजनीतिक भूमिका के लिए प्रशिक्षित किया जाए या वेतन तथा प्रस्थिति की दृष्टि से और उन्नत अस्त्र-शस्त्रो की उपलब्धि द्वारा संतुष्ट रखा जाए। बलात राजपरिवर्तन का कारण सैनिक बलो का अतर्कलह भी होता है परतु इसे निर्णायक कारण नही माना जा सकता। सेना नागरिक शासन प्रायः तभी हाथ मे लेती है जब लोकतांत्रिक व्यवस्था में गहरा और लबा व्यवधान आ गया हो जिसका समाधान राजनीतिक लोग न कर पाए हो जैसे, गृहयुद्ध, चिर मुद्रास्फीति, सार्वजनिक व्यवस्था का भंग हो जाना, खुला और निरंतर राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि। ऐसे राजनीतिक दलो को चुनाव जीत कर सत्ता हस्तगत करने से रोकने के लिए भी सेना शासन पलट सकती है जिनसे स्थापित व्यवस्था को खतरा हो। कुछ भी हो, बुनियादी कारण कारगर लोकतांत्रिक संस्थाओ को मजबूत करने की असफलता है। सेना में कोई अतर्निहित दोष नहीं।

सैनिक शासन

सैनिक शासन से समाज की समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं होता, केवल थोड़ी देर के लिए आराम हो जाता है। दो-एक दशक पहले यह फैशन-सा हो गया था कि सेना को ही आर्थिक आधुनिकीकरण और राष्ट्र-निर्माण का साधन समझा जाए, क्योंकि लोकतात्रिक राजनीति मे तो भ्रष्टाचार और कलह का बोलबाला रहता है। किंतु सेनाबलो द्वारा शासन के अधिकार का औचित्य स्थापित नहीं हो सकता। और शासन चलाने के मामले में सेना का रिकार्ड बहुत खराब रहा है। गुप्त रूप से चलने वाला शासन भ्रष्टाचार को छुपा तो सकता है, घटा नहीं सकता। आर्थिक व्यवस्था सुधारने मे भी सेना का विशेष योगदान दिखाई नहीं दिया। और फिर, सेना जब सत्ता सभाल लेती है तो मानवीय अधिकारों का ऐसा हनन होता है कि खुले शासन की किसी भी व्यवस्था में सहन न हो।

लोकतंत्र का दृढ़ीकरण

लोकतंत्रीय संस्थाओ, सवैधानिक शासन तथा कानून के शासन को सुदृढ बनाने का लबा रास्ता अपनाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। इसमें अंतर्राष्ट्रीय सहायता की आवश्यकता भी पड़े तो ले लेनी चाहिए। न ही सामाजिक विवादों का समाधान वार्तालाप तथा समझौते द्वारा तलाश करने का कोई विकल्प है। परंतु इसके साथ ही साथ राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे उपाय करना भी जरूरी है कि

मानवीय अधिकारों के अतिक्रमण का पता लगाया जा सके और उसके लिए दंड दिया जा सके। विशेषकर उस अतिक्रमण पर कार्रवाई अवश्य हो जो प्रशासन के अधिकारियों की ओर से होता है। ऐसे शासनों को जहां ऐसा होता हो, नाकेबंदी द्वारा दंडित किया जाना चाहिए।

48. क्या लोकतंत्र में गुप्त सेवा का कोई स्थान हो सकता है ?

सिद्धांत रूप से शासन में कोई भी गोपनीयता लोकतंत्र के विरुद्ध है। किंतु लोकतंत्रीय राज्यो को विदेशी खतरे, देश के अदर संगठित अपराध से समाज की रक्षा तथा स्वयं लोकतंत्रीय प्रक्रिया को तोड़फोड़ से सुरक्षित रखने के लिए प्रच्छन्न संक्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है। इन संक्रियाओं से समस्या यह उत्पन्न होती है कि इनमे जो तौर-तरीके—निगरानी, सूचना के लिए सेंध लगाना, टेलीफोन बीच मे सुनना आदि हर प्रकार की भ्रष्ट कार्रवाई—अपनाए जाते है, उनसे व्यक्तिगत नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण होता है। और ये संक्रियाएं इतनी गोपनीय होती हैं कि वे आसानी से उस सीमा को लांघ जाती हैं जिनके अंतर्गत उनके कार्य का औचित्य बताया जा सके। उदाहरण के लिए, वह उन राजनीतिक सगठनो तथा कार्यो को भी अपना निशाना बना सकती हैं जो सर्वथा कानून के दायरे मे है परंतु जिनसे किसी शासन विशेष अथवा उसकी नीतियो के लिए परेशानी पैदा हो सकती है।

राजनीतिक उत्तरदायित्व

इस प्रकार, सारी बात राजनीतिक नियत्रण पर आ जाती है। सुरक्षा संक्रियाओं को संबंधित मत्री या मंत्रियों के माध्यम से ससद के समक्ष सामान्य उत्तरदायित्व का हिस्सा बना देना ही काफी नहीं है। इसके लिए ससद की एक विशेष समिति होनी चाहिए जो आवश्यकतानुसार गुप्त बैठक मे विचार करे। यह समिति इन संक्रियाओं की जांच-पड़ताल करे और यह सुनिश्चित करे कि इनमे उन सब निर्देशो का पालन हो रहा है जिनका औचित्य सार्वजनिक रूप से प्रमाणित हो सके। इसके अतिरिक्त, औम्बुड्समैन (लोकपाल) को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उन लोगो की शिकायतों पर जांच करे जो किसी आधार पर यह समझते हो कि उनके सर्वथा उचित कार्यो की भी निगरानी की जा रही है और इस प्रकार उनके नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण हो रहा है।

49. लोकतंत्र के लिए स्थानीय शासन महत्वपूर्ण क्यों है ?

लोकतांत्रिक व्यवस्था को सशक्त बनाने के लिए निर्वाचित स्थानीय शासन बहुत आवश्यक है। इसके कई कारण है। इससे सार्वजनिक जीवन में निर्णय की प्रक्रिया में भाग लेने के अवसर बढ़ जाते हैं और भाग लेने वालों की सख्या मे भी बढ़ोतरी होती है। यह स्थानीय स्तर पर काम करता है इसलिए स्थानीय आवश्यकताओ तथा परिस्थितियों के प्रति राष्ट्रीय शासन के मुकाबले अधिक संवेदनशील होता है। इस स्तर पर नीतियों की छोटे पैमाने पर परख भी की जा सकती है। यदि वे परख में सफल दिखाई दें तो उनका अनुकरण अन्यत्र राष्ट्रीय पैमाने पर भी किया जा सकता है। राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय स्तर के पद पर पहुचने के लिए इससे शुरुआत कर सकते हैं। जो दल राष्ट्रीय स्तर पर पराजित हो जाते हैं, उनके लिए स्थानीय शासन राजनीतिक आधार का काम भी दे सकता है। इसके कारण सत्ता केंद्रीय शासन के हाथो मे केंद्रित नहीं हो पाती। इस तरह स्थानीय शासन सत्ता के संवैधानिक बटवारे का भौगोलिक पक्ष भी बन जाता है।

केंद्रीकरण की प्रवृत्तियां

वर्तमान राज्यो में बहुत ही बलवान शक्तिया है जो राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया के केंद्रीकरण को प्रोत्साहित करती है। कोष विभाग सार्वजनिक व्यय पर सर्वोपरि नियत्रण रखने के लिए दबाव डालता है, क्योंकि ऐसा करना राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को संभालने के लिए आवश्यक समझा जाता है। राष्ट्रीय राजनेता भी नहीं चाहते कि स्थानीय स्तर पर उनके राजनीतिक विरोधी नीति सबंधी केंद्रीय पहलकदमी को अवरुद्ध या शिथिल करे। इसके आगे जन सामान्य की अपेक्षाएं है। समाज मे स्थानातरण अधिक होने के कारण लोग यह सहन नहीं करते कि एक स्थान में जिस दर्जे की सेवाएं उपलब्ध है, वैसी दूसरे स्थान पर न हो। नागरिक समता का अर्थ यह है कि नागरिक सेवाए सर्वत्र समान मिले। यदि इसके लिए यह अनिवार्य हो कि साधनो को विभिन्न क्षेत्रों में फिर बाटा जाए और केद्र बंटवारे का नियमन और नियंत्रण करे तो स्थानीय शासन की स्वायत्तता काफी घट जाती है और स्थानीय स्तर पर चुनावी विकल्प की सभावना भी कम हो जाती है।

स्पर्धी अनिवार्यताएं

इन विभिन्न तथा परस्पर विरोधी अनिवार्यताओं के बीच का समाधान निकालना आसान नहीं, विशेषकर ऐसा समाधान जो सब जगह काम आ सके। लेकिन वर्तमान अवस्था में अधिक दबाव चूंकि केंद्रीकरण के पक्ष में है इसलिए आवश्यक है कि

स्थानीय शासन तथा स्थान विशेष के हितों की रक्षा का प्रबध किया जाए। इसके लिए कम-से-कम तकाजा यह है कि केंद्र तथा स्थानीय शासन में कार्य का स्पष्ट बटवारा हो जिसे मतदाता भलीभाति समझ सके। स्थानीय आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार कर्तव्यपालन के लिए पर्याप्त अधिकार एव साधन उपलब्ध हो, भले ही वह राष्ट्रीय नियमो के अनुसार हों, तथा स्थानीय मतदाताओ के समक्ष उत्तरदायी साबित होने के लिए उपयुक्त कार्यप्रणाली स्थापित की जाए। इसके अतिरिक्त यह भी जरूरी है कि केद्रीय शासन का स्थानीय अधिकारियो के अधिकृत निर्णयों मे हस्तक्षेप न हो और आवश्यकता पडे तो सत्ता के इस बंटवारे को संवैधानिक न्यायालय द्वारा लागू करवाया जा सके। आखिर मे, केद्र तथा स्थानीय शासन के मध्य प्रभावकारी संबंध दोनो के सहयोग और अपने अपने कार्यक्षेत्र की सीमा को पहचानने पर निर्भर है। संकीर्ण कानूनबाजी से काम नही चलता।

50. संघीय प्रणाली किस परिस्थिति में अनुकूल सिद्ध होती है ?

संघीय प्रणाली मे कुल राष्ट्रीय भूभाग को विभिन्न राज्यो में बाट दिया जाता है। प्रत्येक राज्य की अपनी अलग ससद और कार्यपालिका होती है। उनके संविधान के अनुसार अधिकार-विभाजन की व्यवस्था के अंतर्गत विधान बनाने तथा कर लगाने का अधिकार होता है। इतिहास के अनुसार सघीय राज्य विभिन्न विधियों से उभरे। या तो प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के विलय के फलस्वरूप या किसी एकात्मक राज्य में विभिन्न क्षेत्रो अथवा राष्ट्रों को स्वायत्तता दिए जाने पर या फिर, मूल संस्थापक समागम में हुए समझौते के आधार पर।

क्षेत्रीय विविधता

संघीय प्रणाली ऐसे विशाल राज्यों में अनुकूल बैठती है जहां विभिन्न क्षेत्रों में विविध प्रकार की सस्कृतिया और विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियां विद्यमान हों। जहां सांस्कृतिक अथवा नस्ली अल्पमत स्वायत्तता की मांग करते हैं वहां यह पूर्ण स्वाधीनता का सर्वोत्तम विकल्प सिद्ध हो सकती है। पूर्णतया अलग हो जाने या निरंतर कलह का शिकार होने से अच्छा है कि थोड़ा-सा अलग रहा जाए। निर्वाचित स्थानीय शासन के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं (देखिए प्रश्न 49) उनमें से अधिकांश संघीय प्रणाली के पक्ष में भी दिए जा सकते हैं।

4

व्यक्तिगत अधिकार और उनकी रक्षा

51. मानवाधिकार क्या हैं ?

मानवाधिकार तथा मूल स्वतत्रताए वे व्यक्तिगत अधिकार हैं जो मानवीय आवश्यकताओ एव क्षमताओं पर आधारित हैं। इन मानवाधिकारों की मान्यता तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि में इनकी रक्षा की व्यवस्था वर्तमान शताब्दी की प्रमुख नैतिक प्रगति है। अंतर्राष्ट्रीय समाज ने मानवाधिकारो के बारे में अनेक अंतर्राष्ट्रीय समझौते और अभिसमय अगीकार किए हैं। इन अभिलेखों में मानवाधिकारों तथा स्वतंत्रताओ की सर्वमान्य परिभाषा की चेष्टा करते हुए शासनो को प्रतिबद्ध किया गया है कि वे अपने अपने देशो में कानून और व्यवहार में इन अधिकारो का सरक्षण सुनिश्चित करें।

सार्वभौम घोषणा

आधुनिक विश्व मे मानवाधिकारों का मूलस्रोत वह घोषणा है जो सयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने 10 दिसंबर, 1948 को पारित की थी। इसे मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा कहते हैं। आगे चलकर 1966 में संयुक्त राष्ट्र सघ ने इस सार्वभौम घोषणा पर आधारित दो अन्य अभिलेख भी पारित किए। एक है आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा और दूसरा है नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा। संसार के दो-तिहाई राज्यों ने अब इन प्रसंविदाओं का अनुसमर्थन कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय नागरिक एवं राजनीतिक प्रसविदा के सबंध में एक वैकल्पिक उपसंधि भी स्वीकार की है। इसके अनुसार यदि किसी व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण शासन द्वारा होता हो तो उसे इस प्रसंविदा पर चौकसी रखने वाली मानवाधिकार समिति के समक्ष अपील करने का अधिकार है। परंतु इस अधिकार का प्रयोग उसी स्थिति

में किया जा सकता है जब संबंधित राज्य ने उक्त प्रसंविदा का अनुसमर्थन किया हुआ हो तथा उक्त उपसंधि को भी स्वीकृति दी हो। बहुत-से राज्यों ने यह स्वीकृति नही दे रखी है।

क्षेत्रीय प्रसंविदे

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा, उपर्युक्त दो प्रसंविदे तथा उपर्युक्त वैकल्पिक उपसंधि को सामूहिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार पत्र कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, मानवाधिकारों से सबधित और भी कई सार्वभौम राष्ट्रीय संधिया तथा क्षेत्रीय अभिसमय हैं। जैसे, मानवाधिकारों पर अमरीकी अभिसमय, मानवीय तथा जनाधिकारों पर अफ्रीकी घोषणा-पत्र तथा मानवाधिकारों पर यूरोपीय अभिसमय। परतु उन सबकी चर्चा यहा नही की जा सकती। मानवाधिकारों पर और अधिक साहित्य की जानकारी के लिए इस पुस्तक के अत मे सुझाव दिए गए हैं।

52. अधिकारों को श्रेणियों में कैसे बांटा जाता है ?

अधिकारो को कई प्रकार से श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है। परंतु नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक अधिकार श्रेणियां सबसे अधिक व्यापक रूप से मानी जाती हैं। इन श्रेणियों को सामने रख कर अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार विधान बनाया गया है। नागरिक एव राजनीतिक अधिकार इस प्रकार हैं : जीवन का अधिकार; यातना से मुक्ति; बधुआ मजदूरी से मुक्ति; मनमानी गिरफ्तारी से मुक्ति; न्यायालय मे उचित विचारण का अधिकार; विचार, अंतरात्मा, धर्म अथवा आस्था की स्वतंत्रता; निजी जीवन का अधिकार; अभिव्यक्ति एव संगठन की स्वतंत्रताएं एवं राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार। नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार विशेषतया ऐसे अधिकार हैं जिनके अनुसार राज्य व्यक्तियों तथा समूहों के कार्य में हस्तक्षेप न करने के लिए प्रतिबद्ध होता है। इनके आधार पर राज्य के ऊपर कुछ दायित्व भी आते हैं। जैसे, न्यायिक सहायता व्यवस्था के लिए अनुदान ताकि निर्धन तथा कम साधन संपन्न लोग न्यायालयों में न्याय प्राप्त कर सकें, विशेष रूप से तब जब उनके विरुद्ध गंभीर आपराधिक अभियोग चल रहे हों। इस जैसा दूसरा उदाहरण हो सकता है राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को संचार साधनों तक पहुंच की सुविधा प्राप्त कराने के लिए व्यय।

आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार

आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों में शामिल हैं आहार तथा स्वास्थ्य,

उचित जीवन-स्तर, समान श्रम के लिए समान वेतन, सामाजिक सुरक्षा, काम-धंधा, हड़ताल करने, आवास पाने, शिक्षा प्राप्त करने तथा, सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने आदि के अधिकार। आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार वे हैं जिनके अनुसार राज्य पर लोगों के जीवन-यापन का प्रबंध करने की जिम्मेदारी आती है, विशेषकर उस स्थिति में जब वे स्वयं इसके लिए असमर्थ हो जैसे, बेकारी या अपगता की अवस्था में।

भेदभाव से मुक्ति

सभी अधिकारों के साथ एक महत्वपूर्ण सिद्धात यह जुड़ा है कि इन अधिकारों के प्रयोग मे स्त्री-पुरुष, नस्ल, धर्म अथवा आस्था के आधार पर भेदभाव न बरता जाए।

53. क्या कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो दूसरों से अधिक महत्त्व रखते हैं ?

इस प्रश्न का सबसे अच्छा उत्तर यही है कि जो भी मानवाधिकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यताप्राप्त हैं, वे सब एक-दूसरे से जुड़े हुए है और एक-दूसरे को बल प्रदान करते हैं। कुछ देशों मे वहा के नागरिक कुछ अधिकार निश्चित मानकर चलते हैं, परंतु यह स्थिति उन देशों के विकास-स्तर पर निर्भर है। जैसे, समृद्ध देशों मे एक समुचित जीवन-स्तर पाने तथा खाने, कपड़े, आवास तथा शिक्षा के अधिकार। गरीब देशों मे ये अधिकार प्राप्त करना वहा के लोगो की प्रमुख चिंता होगी। परतु सभी लोकतांत्रिक समाजो के लिए इस प्रकार के आर्थिक एव सामाजिक अधिकार मूल अधिकार माने जाते हैं और इनकी उसी प्रकार गारटी होनी चाहिए। जैसे कि नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की—अर्थात कानून के शासन का अधिकार, मनमानी गिरफ्तारी तथा विरोध से बचाव का अधिकार, अभिव्यक्ति तथा संगठन-निर्माण का अधिकार—जो मूल अधिकार हैं और ये सुनिश्चित होने चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि, बिना किसी भेदभाव के, सभी नागरिकों के अधिकारों के प्रति आदर की भावना का संवर्धन करे।

54. क्या मानवाधिकार सार्वभौम हैं ?

अवश्य ! अंतर्राष्ट्रीय मानदंड सभी मानवीय आवश्यकताओं तथा दुनिया के सभी भागों के लोगों की क्षमताओं को सामने रखकर निर्धारित किए गए हैं। बेशक दुनिया अलग अलग क्षेत्रों और संस्कृतियों से मिलकर बनी है। कुछ देश अमीर



सभी मानवाधिकार सार्वभौम है।

हैं, कुछ गरीब। कुछ लोगों का कहना है कि मानवाधिकारों के अतर्राष्ट्रीय मानदंड व्यक्ति को दृष्टि मे रखकर बनाए गए है इसलिए ये उस सास्कृतिक वातावरण के अनुकूल नहीं हैं जहां व्यक्ति को सामाजिक समष्टि से अलग करके नहीं देखा जाता और समाज के प्रति व्यक्ति के कर्तव्य को प्राथमिकता दी जाती है। दुनिया के उत्तरी तथा दक्षिणी भागो मे आजकल सर्वत्र यह बहस चल रही है कि व्यक्तिगत मानवाधिकारों के बारे में समकालीन विचारो के कारण क्या सभी समाजों को व्यक्ति और समष्टि के परस्पर सबधों पर पुनर्विचार नहीं करना पड रहा है। ऐसा शायद हो भी रहा है, परतु इस बात का कोई सबूत नहीं है कि व्यक्तिगत मानवाधिकारो की मान्यता अथवा सरक्षण से मानवीय एकजुटता तथा सामूहिक समाज को किसी प्रकार की हानि पहुचती है। तथ्य इसके विपरीत है। सार्वभौम मानवाधिकारों के मानदड मानव-समूहों और समाजों की सुरक्षा की चेष्टा करते है, और व्यक्तियो द्वारा अपने भाषाभाषियों के साथ सहयोग-सपर्क करने तथा अपनी सस्कृतियों, धार्मिक आस्थाओं तथा जीवन-पद्धतियों का हिस्सा बनने की आवश्यकता को मान्यता प्रदान करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून प्रथम तो मानवमात्र के लिए समान मानवाधिकारों के एक बुनियादी स्तर को मान्यता देता है और उससे भी आगे बढते हुए, वह सभी संस्कृतियों के फलने-फूलने के अधिकार को भी स्वीकार करता है और इस अधिकार का भागी मूलवासियो की सस्कृतियों को भी माना जाता है।

अधिकार और कर्तव्य

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के अंतर्गत समाज के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों का भी वर्णन है। इसमे यह बात जोर देकर कही गई है कि मानव व्यक्तित्व का स्वतंत्र एवं संपूर्ण विकास समाज के साथ मिलजुल कर काम करने से ही सभव है। लेकिन मानवाधिकारो की धारणा का आधार यह विश्वास ही है कि प्रत्येक मानव व्यक्तित्व का मूल्य अन्यतम है।

मानदंड बरतने में भेदभाव नहीं

सार्वभौम आकांक्षाओं के रूप में मानवाधिकारों के जो मानदड स्वीकार किए गए हैं, उनकी आलोचना का आधार व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यो के बीच प्राथमिकता संबंधी सांस्कृतिक मतभेदो को लेकर कम और इस बात पर अधिक है कि प्राथमिकता व्यक्ति को दी जाए या समाज को। जाहिर है कि मानवाधिकारों के इस पक्ष को लेकर विभिन्न सस्कृतियों में अलग अलग संतुलन हो सकता है पर इसके बावजूद इनकी बुनियादी सार्वभौमिकता समाप्त नहीं होती। आलोचना मुख्यतया इसका कारण होती है कि दुनिया-भर के शासन मानवाधिकार-हनन के

बारे में समदृष्टि से काम नहीं लेते और इस भेदभाव के अनेक प्रमाण हैं। प्राय: ऐसा होता है कि भर्त्सना करते समय विभिन्न राज्य अन्य राज्यों के साथ अपने संबधों के आधार पर भेदभाव बरतते हैं। प्राय. अपने विरोधी देश के व्यवहार की भर्त्सना तो खूब की जाती है परंतु अपने मित्र देशों के वैसे ही व्यवहार की ओर से आंखें बंद कर ली जाती है। यदि मानवाधिकारों तथा लोकतत्र के पक्ष में विश्वव्यापी मत बनाना अभीष्ट हो तो जरूरी है कि मानवाधिकार-सुरक्षा की अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आधार उत्तरदायित्व की ऐसी प्रणाली को बनाया जाए जिसके अनुसार राज्यों के व्यवहार को आंकने में भेदभाव का दखल न हो और मूल्याकन वस्तुपरक हो।

वियाना सम्मेलन

मानवाधिकारो तथा अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के कर्तव्यों के संबध मे इन महत्वपूर्ण विचारों की पुष्टि हाल ही मे, जून 1993 मे आयोजित वियाना के मानवाधिकार संबंधी विश्व सम्मेलन मे की गई थी–

> 'सभी मानवाधिकार सार्वभौम है। ये अविभाज्य, परस्पर निर्भर और अतर्संबद्ध हैं। अतर्राष्ट्रीय समुदाय को मानवाधिकारो के बारे मे सर्वत्र न्याय और समानता की दृष्टि रखनी चाहिए। मानदड समान होने चाहिए और उन पर बल भी एक जैसा दिया जाना चाहिए। राष्ट्रीय एव क्षेत्रीय विशेषताओ तथा विभिन्न ऐतिहासिक, सास्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमियो को अवश्य ध्यान मे रखा जाए परतु सभी राज्यों का कर्तव्य है कि मानवाधिकारो तथा मूल स्वतत्रताओ को बढावा दे और उनकी सुरक्षा करें, भले ही उनके देशो की राजनीतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक प्रणालियां कैसी भी हो। (उपसहारक अभिलेख, पैरा-3)

55. किसी देश की मानवाधिकारों की स्थिति को लेकर अंतर्राष्ट्रीय आलोचना कहां तक उचित है ?

किसी राष्ट्र के आंतरिक मामलों मे दूसरे राष्ट्र हस्तक्षेप न करें, यह आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के मूल सिद्धात के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर मे दर्ज है। किंतु अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आंदोलन के विकास तथा मानवाधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय मानदंड के लगातार विस्तार से एक और सिद्धांत बन गया है जिसको आजकल मान्यता प्राप्त हो गयी है। उसके अनुसार किसी राज्य का अपने नागरिकों के प्रति व्यवहार सार्वजनिक मामला है और इस पर अन्य राज्यो अथवा गैर सरकारी संस्थाओं की आलोचना को उस देश के आंतरिक मामलों मे हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता। विश्व मानवाधिकार सम्मेलन ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि "सभी

मानवाधिकारों के प्रसार और उनकी सुरक्षा का जायज सरोकार समग्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को है।" (उपसंहारक अभिलेख, पैरा 2.2)

56. मानवाधिकारों तथा लोकतंत्र में परस्पर क्या संबंध है ?

मानवाधिकारों तथा लोकतंत्र (विकास सहित) के परस्पर संबंध के विषय में विश्व मानवाधिकार सम्मेलन ने मत व्यक्त किया कि ये "एक-दूसरे पर निर्भर हैं और एक-दूसरे को बल प्रदान करते हैं।" दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा अब यह मान लिया गया है कि मानवाधिकारों की सुरक्षा तथा कानून का शासन लोकतंत्रीय सिद्धांतों के आधार पर ही अधिक अच्छी तरह सुनिश्चित किया जा सकता है, भले ही कोई देश विकसित हो या विकासशील। यह भी माना जाता है कि लोकतंत्र के समुचित संचालन के लिए मानवाधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को व्यवहार में लाना अनिवार्य है। एक समय दावा किया जाता था कि व्यक्तिगत मानवाधिकारों की सुरक्षा बिना लोकतंत्र के भी हो सकती है, विशेषकर उन देशों में जहां आर्थिक विकास को प्राथमिकता देने की आवश्यकता हो परंतु अनेकानेक उदाहरणो से सिद्ध हो गया है कि ऐसी व्यवस्थाएं जल्दी ही हितकारी कम, दमनकारी अधिक तथा भ्रष्ट एव अस्थिर हो जाती हैं।

लोकतंत्रीय शासन, एक मानवाधिकार

लोकतंत्र और मानवाधिकारो में नजदीकी संबध कोई नई मान्यता नहीं। मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा में लोकतत्रीय शासन का भी अनुमोदन किया गया है। इसके आदर्शो मे यह भी शामिल है कि "शासन के अधिकार का आधार जनता की इच्छा होगी।" (धारा 21)। नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा में राज्यों को बाध्य किया गया है कि वे प्रत्येक नागरिक के लिए इस अधिकार तथा अवसर की गारंटी दे कि वह "प्रत्यक्ष रूप से या निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक कार्यो के संचालन मे भाग ले सके, समय समय पर होने वाले वास्तविक चुनावों में मतदान कर सके और उनमें चुना जा सके (तथा) सामान्य समानता के आधार पर लोक पद पाने का अधिकारी हो।" (धारा 25)

विकास का अधिकार

शीत युद्ध की समाप्ति के उपरांत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का जो विकास हुआ है उनमें सार्वभौम मानवाधिकारों तथा लोकतंत्र की परस्पर निर्भरता की स्पष्ट मान्यता का

प्रमुख स्थान है। इसके साथ ही एक और प्रगति यह हुई है कि विकासशील देशों ने विकास का अधिकार पाने के लिए मानवाधिकारों तथा लोकतंत्रीय शासन की मान्यता को आधार मान लिया है।

57. नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों तथा लोकतंत्र में क्या संबंध है ?

प्रत्येक नागरिक के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की गारंटी की लोकतंत्र मे दोहरी भूमिका होती है। प्रथम तो सामूहिक निर्णय निर्धारण की व्यवस्था मे ये अधिकार सार्वजनिक नियत्रण तथा राजनीतिक समता, दोनों सिद्धांतो को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है। दूसरे, इन अधिकारों और स्वतत्रताओं द्वारा सामूहिक कार्रवाई पर अंकुश भी रहता है क्योंकि ये व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा चुनाव के वे क्षेत्र सुनिश्चित कर देते हैं जो बहुमत-निर्णय के अतर्गत नही आ सकते। इस दोहरी भूमिका का क्या स्वरूप होता है, यह समझने के लिए उन नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारो का मूल्यांकन करना होगा जो लोकतत्रीय पद्धति से निकट रूप से जुड़े हुए है।

व्यक्तिगत आजादी और सुरक्षा

व्यक्ति मनमानी गिरफ्तारी, विरोध, देशनिकाला अथवा बहिष्करण से सुरक्षित न हो तो वह खुलकर राजनीतिक परिचर्चा या कार्य मे भाग नही ले सकता। इस सहज समझ का दृष्टांत वह नियम है जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को ससदीय कर्तव्यपालन के दौरान प्राय· गिरफ्तार नही किया जा सकता। किंतु व्यक्तिगत आजादी के अधिकार की आवश्यकता लोकतत्र मे सभी को रहती है। लोकतत्रीय समाज मे ऐसे व्यक्ति की आजादी और शारीरिक सुरक्षा भी सुनिश्चित रहती है जो अलोकप्रिय हो, भले ही बहुमत का विचार ऐसा करने का विरोधी हो।

'यथोचित प्रक्रिया'

उपर्युक्त सभी तर्क व्यक्ति की अनुचित दोषारोपण, दुर्व्यवहार, यातना तथा पूर्वाग्रहयुक्त विचारण से सुरक्षा के हक मे भी दिए जा सकते है। जो समाज लोकतत्र को नहीं मानते, उनमे राजनीतिक विरोधियों पर मुकदमे चलाना आम बात है। लोकतत्रीय समाज में आवश्यक है कि न्यायपालिका स्वाधीन हो और आपराधिक न्याय का प्रशासन कानून के शासन के अनुसार चले तथा वह राजनीतिक या वैचारिक प्रभाव अथवा जोड़-तोड़ से मुक्त हो।

विचार और अंतरात्मा की स्वाधीनता

लोकतंत्रीय समाज की बुनियादी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार विचार रखने या कोई भी जीवन दर्शन अपनाने के लिए स्वाधीन है। इसी प्रकार लोकतत्रीय समाज प्रत्येक व्यक्ति को यह आजादी भी देता है कि वह किसी भी धार्मिक गुट से सबध रखे या किसी भी धार्मिक आस्था को अपनाए तथा प्रचारित करे। सीमा केवल यह है कि वह दूसरों के इस अधिकार का उल्लंघन न करता हो। विचार स्वातंत्र्य की व्यक्तिगत अधिकार के रूप में सुरक्षा होनी चाहिए, भले ही उसके विपरीत विचार प्रचलित हों और भारी बहुमत उसके विरुद्ध हो और भले ही वह विचार धार्मिक हो या लौकिक। यह सुरक्षा विशेष रूप से ऐसे विभिन्न धार्मिक गुटों तथा संप्रदायों के लिए जरूरी होती है जो अल्पसंख्यक हैं। उनको वैसी ही स्वाधीनता मिलनी चाहिए जैसी बहुमत के विचारों और आस्थाओं को उपलब्ध रहती है।

अभिव्यक्ति तथा संचार-माध्यमों की स्वतंत्रता

जैसा कि हम पहले ही बता चुके है, लोकतंत्र का मूल तत्व यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आवाज होती है और उस पर वैसा ही ध्यान दिया जाना चाहिए जैसा दूसरो की आवाज पर दिया जाता है। और यदि प्रत्येक नागरिक की सुनवाई होनी है तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अनिवार्य है। अभिव्यक्ति की स्वतत्रता के अतर्राष्ट्रीय मानदड के अनुसार यही काफी नहीं है कि व्यक्ति अपनी बात खुलकर कहने में स्वतंत्र हो बल्कि यह भी आवश्यक है कि उसे "देश-विदेश के किसी भी संचार-माध्यम से हर प्रकार की सूचना और विचार खोजने और प्राप्त करने" का भी अधिकार हो। आधुनिक समाज में इसका अर्थ है कि संचार-माध्यम पूर्णतया स्वतत्र हों। केवल व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एव निजता की सुरक्षा के लिए सुनिश्चित कानून का अकुश रखा जाए। उन्हें नागरिकों को सूचना उपलब्ध कराने, शासन की आलोचना करने तथा नीति संबंधी विकल्पों पर चर्चा प्रोत्साहित करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। (देखिए प्रश्न 6)

सूचना-प्राप्ति का अधिकार

लोकतंत्र में सूचना-प्राप्ति का अधिकार शासन की पारदर्शिता बढ़ाता है। इसका अर्थ है कि शासकीय सूचनाएं तथा अभिलेख सार्वजनिक रूप से उपलब्ध रहें तथा कुछेक अपवादों को छोडकर उन्हें गोपनीय अथवा गुप्त की श्रेणी में न रखा जाए। (देखिए प्रश्न 37)



यह विधिसंगत लोकतंत्रात्मक अधिकार है।

सम्मेलन तथा संगठन की स्वतंत्रता

आधुनिक प्रतिनिधि लोकतंत्र तब तक नही चल सकता जब तक यह गारंटी न हो कि लोग सार्वजनिक विषयो पर बहस के लिए एकत्र हो सकते हैं, मजदूर सघ तथा अन्य संगठन बना सकते हैं, अपने हितो के लिए शासन पर दबाव डाल सकते है तथा राजनीतिक दल-निर्माण कर सकते तथा उनमें भाग ले सकते हैं। इस स्वतंत्रता मे इकट्ठा होने, प्रदर्शन करने तथा अपनी शिकायतें दूर कराने के लिए याचिका देने के अधिकार शामिल है।

58. सामाजिक और आर्थिक अधिकारों का लोकतंत्र से क्या संबंध है ?

लोकतत्रीय पिरामिड (देखिए प्रश्न 15) के अनुसार रोजगार, आवास, भोजन, उचित जीवन-स्तर, शिक्षा तथा जीवन की अन्य आवश्यकताएं प्राप्त करने के मूलभूत अधिकार नागरिक समाज के लिए अनिवार्य आधारशिला है। जिस समाज में भूख व्याप्त होगी वहां लोकतत्रीय राजनीति लंगडी रहेगी। लोकतत्र तभी चल सकता है जब जीवन चलाने के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध रहे। लोकतंत्र के सिद्धात के अनुसार मतदाताओ के विचार आपस मे समतुल्य है। अतः जिस हद तक रोजगार तथा शिक्षा आदि पाने के अवसरो में विषमता होगी उसी हद तक समाज की लोकतत्र-निर्माण की क्षमता सीमित रहेगी। इसके साथ ही, सामूहिक प्रक्रिया के रूप में लोकतंत्र इन विषमताओ की पहचान करने और उन्हे दूर करने का उपाय भी है।

विकास और मानवाधिकार

यही बात विकास पर भी पूरी उतरती है। विकास-प्रक्रिया का स्थायित्व इस पर निर्भर है कि वह लोगों के प्रति कहां तक उत्तरदायी है और विकास की नीतियां कहां तक ऐसे ढांचे के अतर्गत चलती हैं जिसमें मानवाधिकारो तथा कानून के शासन का आदर किया जाता है। (देखिए प्रश्न 68)

59. क्या कोई ऐसे कारण भी हैं जिनके आधार पर कोई लोकतंत्रीय शासन अधिकारों को सीमित करना उचित ठहरा सके ?

कुछ ऐसे विशेष कारण हैं जिनके आधार पर कुछ अधिकारों पर अंकुश लगाने की अनुमति अंतर्राष्ट्रीय मानदंड भी देते हैं। सार्वजनिक व्यवस्था, लोक आचार, राष्ट्रीय सुरक्षा, दूसरों के अधिकार आदि ऐसे कारण हो सकते हैं। किंतु कुछ अधिकार ऐसे

हैं जिन पर कोई बधन नही लगाया जा सकता। यातना से मुक्ति, विचार स्वातत्र्य तथा भेदभाव से मुक्ति ऐसे व्यक्तिगत अधिकार हैं जो लोकतत्रीय समाज मे कभी भी नहीं छीने जाने चाहिए।

अधिकारों पर प्रतिबंध के आधारभूत सिद्धांत

किसी अधिकार मे हस्तक्षेप करने या उस पर प्रतिबध लगाने के औचित्य संबधी सिद्धांत अतर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र मे अच्छी तरह परिभाषित है। ये इस प्रकार है—जो भी प्रतिबंध लगाया जाए, उसका प्रावधान कानून मे हो; इसका उद्देश्य विधिसंगत हो अर्थात अधिकार को सीमित करने का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय मानदड के अनुकूल हो; और हस्तक्षेप या प्रतिबध लगाने के लिए जो कारण बताया जाए वह लोकतत्रीय समाज की अवधारणा के अनुसार हो। व्यवहार में इसका अर्थ यह है कि शासन को यह प्रमाणित करना होगा कि किसी अधिकार या स्वतत्रता पर लगाया गया प्रतिबध सानुपात है, अत्यधिक नहीं।

अपवादी परिस्थितियां

इस प्रकार, किसी राजनीतिक दल पर प्रतिबध तब तक नही लगाया जा सकता जब तक कि यह स्पष्ट न हो कि वह असंवैधानिक अथवा हिसक कार्रवाइयों मे लगा हुआ है। ऐसे ही, मानवाधिकार के अंतर्राष्ट्रीय मानदंड के अनुसार प्रेस पर पूर्व-सेंसर तभी लगाया जा सकता है जब कोई अपवादी या असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो गयी हो। यह अपवादी स्थिति वह होगी जब वह समाचारपत्र कोई अतिसंवेदनशील समाचार प्रकाशित करने वाला हो या न्यायालय में प्रमाणित किया जा सके कि उस प्रकाशन विशेष से किन्हीं लोगों की जान को तुरंत खतरा पैदा हो जाएगा या राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में पड जाएगी।

60. क्या आपातकाल में मानवाधिकार निलंबित किए जा सकते हैं ?

अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानदंड के अतर्गत नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों को अस्थायी रूप से निलंबित किया जा सकता है, यदि ऐसी आपात स्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमे "राष्ट्र का अस्तित्व खतरे में" आ गया हो और इस बात की सरकारी तौर पर घोषणा कर दी गयी हो। शासन आपातकालीन अधिकार हस्तगत करने के लिए प्राय· यह तर्क देते है कि राजनीतिक या जातीय अंतर्कलह हिंसा तथा आतंकवाद का रूप धारण कर गया है। ऐसी स्थिति मे पुलिस तथा अन्य सुरक्षा बलों को गिरफ्तार करने और तलाशी लेने के अतिरिक्त अधिकार दे दिए

जाते हैं। बिना मुकदमा चलाए हिरासत में रखने का अधिकार भी दे दिया जाता है।

अनल्पनीय अधिकार

लोकतंत्र आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग बहुत कम करते हैं और विशेष अधिकारों के प्रयोग के इस सिद्धांत को कम-से-कम सीमा तक तथा कम-से-कम समय के लिए लागू करते हैं। तब भी इसके दुरुपयोग से बचाव की अधिक से अधिक व्यवस्था की जाती है। परंतु कुछ अधिकार ऐसे हैं जिनको आपातकाल में भी निलंबित या अल्पित नहीं किया जा सकता। जैसे जीवित रहने का अधिकार, विचार तथा अंतरात्मा का अधिकार तथा यातना से मुक्ति का अधिकार। इनको अनल्पनीय अधिकार कहा जाता है। इस प्रकार, ये परम या निरपेक्ष अधिकार और स्वतंत्रताएं हैं।

61. क्या लोकतंत्र में किसी को नागरिकता से वंचित किया जा सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सिद्धांत रूप में शासन को यह निर्णय करने का अधिकार है कि राष्ट्र का सदस्य अथवा नागरिक कौन हो सकता है और नागरिकता के अधिकार किस प्रकार प्राप्त किए जा सकते हैं। परंतु इस प्रभुसत्ता का प्रयोग करने में भेदभाव नहीं बरता जा सकता। उदाहरण के लिए, आप्रवास नीति जातीय आधार पर क्रियान्वित नहीं की जा सकती। शरणार्थियों को आने की अनुमति देने में भी उन सभी अंतर्राष्ट्रीय समझौतों का पालन करना आवश्यक है जिनका अनुसमर्थन शासन कर चुका हो।

निवासी विदेशियों के अधिकार

ऐसे निवासियों को जो इस देश के नागरिक नहीं हैं, शासन राजनीतिक अधिकार देने से इंकार कर सकता है। लेकिन लोकतंत्रीय व्यवहार में समकालीन प्रचलन यह है कि काफी समय से निवास करने वाले विदेशियों को राजनीति में भाग लेने तथा वोट देने के अधिकार दे दिए जाते हैं (देखिए प्रश्न 21)। नागरिकता से संबंधित राजनीतिक अधिकारों को छोड़कर, अन्य सभी मूलाधिकार और स्वतंत्रताएं निवासी विदेशियों के लिए बिना भेदभाव सुनिश्चित करने के लिए राज्य बाधित है।[9]

9 भारत में निवासी विदेशियों को राजनीति में भाग लेने तथा वोट देने के अधिकार नहीं दिए जाते यद्यपि अन्य सभी मूलाधिकार और स्वतंत्रताएं उनके लिए सुनिश्चित हैं।



मानवाधिकारों की शिक्षा का प्रसार पुलिस और सेना जैसे लोकप्राधिकारियों तक होना चाहिए।

62. क्या लोकतंत्र में अल्पसंख्यक समूहों को भी कोई अधिकार मिलते हैं ?

अल्पसंख्यक समुदायो को चाहे वे धर्म के आधार पर हों या संस्कृति, राष्ट्रीयता, नृजाति अथवा भाषा के आधार पर, उनके लिए अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानदड में विशेष अधिकार सुनिश्चित हैं। इन अल्पसंख्यक समूहों का अधिकार केवल यह नहीं कि उनके अस्तित्व को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो अपितु यह भी है कि राज्य उनकी विशिष्ट पहचान की रक्षा करे तथा उसके संवर्धन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करे। अल्पसख्यकों को पूरे लोकतंत्रीय अधिकार देना आवश्यक है ताकि वे देश संबंधी मामलों में अन्य लोगों के समान बराबर के भागीदार हों और उन निर्णयों में भागीदार हों जिनका सीधा संबंध उन विशेष समूहों अथवा क्षेत्रो के साथ हो।

अल्पसंख्यक संबंधी संयुक्त राष्ट्र का घोषणापत्र

ये तथा अन्य सभी सिद्धांत राष्ट्रीय अथवा नृजातीय, धार्मिक एव भाषायी अल्पसंख्यक समूहों से संबंधित व्यक्तियो के बारे में सयुक्त राष्ट्र के उस घोषणा पत्र में दर्ज हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने दिसबर,1992 मे पास किया था। अल्पसंख्यक समूह अधिकांश नहीं तो बहुत-से राज्यों में विद्यमान हैं। इनके प्रति सकारात्मक व्यवहार उनके लोकतंत्रीय होने की कसौटी माना जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र के इस नए घोषणा पत्र को कार्यरूप देना सभी देशों का स्पष्ट और तात्कालिक उद्देश्य होना चाहिए।

63. व्यवहार में मानवाधिकारों की सुरक्षा कैसे की जाए ?

अधिकारों की सुरक्षा के उपायों को लेकर लोकतंत्रीय समाजों में मतभेद होगा। किंतु अंतर्राष्ट्रीय मानदंड से कुछ निर्देश मिलते हैं जिनमें यह भी शामिल है कि यदि अधिकार-हनन की शिकायत हो तो प्रत्येक व्यक्ति उसका समाधान पा सके। ऐसी व्यवस्था हो कि प्रत्येक व्यक्ति उन अधिकारों का दावा कर सके जिन्हें प्रदान करने के लिए वह राज्य अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों के अंतर्गत सहमत हुआ है। कुछेक को छोड़कर दुनिया के सभी राज्यों में लिखित संविधान हैं जिनमें मानवाधिकार लोकतंत्रीय प्रक्रियाओं के साथ साथ परिभाषित तथा सुनिश्चित हैं। संविधान के 'अधिकार-पत्र' में दर्ज व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा में न्यायालय विशेष भूमिका अदा करते हैं। आवश्यकता है कि हर व्यक्ति के लिए निर्बाध रूप से न्यायालय तक पहुंचने की व्यवस्था हो और उसे यदि आवश्यक हो तो कानूनी सहायता भी उपलब्ध कराई जाए ताकि वह अपने अधिकारों की पैरोकारी कर सकें।

न्यायालय के निर्णय और निर्देश को कार्यान्वित करने के लिए शासन बाध्य हो। यदि सविधान मे ऐसी व्यवस्था हो तो अधिकार-हनन वाले कानून को वापिस लिया जाए और उसके शिकार व्यक्ति की भरपाई की जाए। अधिकारों की सुरक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि कानून बनाकर तथा अन्य विधि से सकारात्मक कार्यवाही भी की जाए। जैसे हर प्रकार के भेदभाव को अवैध करार दे दिया जाए तथा बच्चों, सामाजिक रूप से अभावग्रस्तो तथा विकलांगों आदि कमजोर लोगों को मूलाधिकारों की उपलब्धि कराने के लिए विशेष उपक्रम किया जाए।

अधिकारों की सुरक्षा के लिए संस्थाएं

लोकतंत्र मे लोग न्याय तथा अधिकार सुरक्षित करने के लिए अपने प्रतिनिधियो का सहारा लेते है। अधिकार-हनन के विरुद्ध चौकसी में सचार-माध्यम भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। व्यवहार मे, अधिकारो की सुरक्षा के लिए सस्थागत व्यवस्था भी की जाती है। जैसे, लोकपाल या ओम्बुड्समैन की नियुक्ति अथवा ऐसे स्वतंत्र अधिकारी की नियुक्ति जो प्रशासन की क्रियाओ पर निगरानी रखे। परतु लोकतंत्र की सुरक्षा का सर्वोत्तम उपाय तो इसके सिद्धांतों और उद्देश्यों मे आस्था की गहराई ही है। इसलिए जरूरी है कि हर स्तर पर मानवाधिकारो तथा लोकतत्रीय नागरिकता के बारे मे शिक्षा दी जाए। शिक्षा केवल विद्यालयों और महाविद्यालयो तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए बल्कि पुलिस तथा सेना समेत सभी सार्वजनिक अधिकारियो तक भी पहुंचनी चाहिए।

5

लोकतंत्रीय अथवा नागरिक समाज

64. नागरिक समाज किसे कहते हैं ?

नागरिक समाज लोकतत्र का अनिवार्य अग है। यह विचार 20वी शताब्दी के दौरान फासिस्ट तथा कम्युनिस्ट तानाशाहियो के अनुभव की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। उन दोनो व्यवस्थाओ मे प्रयास था कि सभी सामाजिक सस्थाओ को राज्य का अंग बनाकर उन्हे राज्य की निगरानी के नीचे रखा जाए। नागरिक समाज की अवधारणा के दो पहलू हैं। नकारात्मक दृष्टि से, इसके अनुसार राज्य की पहुंच या कार्यक्षेत्र को सीमित रखना चाहिए ताकि इसे समस्त सामाजिक गतिविधियो पर नियंत्रण करने, जीवन के सभी क्षेत्रो में दखल देने या समाज की पहलशक्ति एवं प्रतिभा को आत्मसात करने से रोका जा सके। इसके सकारात्मक पहलू के अनुसार, समाज के अंदर स्वैच्छिक संगठन के अनेक स्वाधीन केंद्र होने चाहिए जिनके माध्यम से लोग सामूहिक तौर पर अपनी समस्याओ का समाधान कर सके, जो जनमत की अभिव्यक्ति के माध्यम हो तथा शासन पर दबाव डाल सके तथा जो शासन के अतिक्रमण से बचाव का काम करें।

नागरिक समाज के विभिन्न अंग

नागरिक समाज के प्रमुख अंग हैं : बाजार अर्थव्यवस्था (देखिए प्रश्न 9), स्वतंत्र संचार-माध्यम (देखिए प्रश्न 6), शासन की नीति के सभी पहलुओं पर विशेषज्ञता के स्वतंत्र साधन। सबसे अधिक महत्वपूर्ण है सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे स्वैच्छिक संगठनों का जाल जिनके द्वारा लोग अपने कार्यव्यापार स्वयं चला सकें। समय और स्थिति के अनुसार लोकतत्र की सुरक्षा और प्रसार के लिए ये संगठन विभिन्न रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। ऐसे संगठन हैं मजदूर संघ, वृत्तिक संगठन, महिला संगठन, मानवाधिकार तथा विकास संस्थाएं, स्वावलंबन

संस्थाए, धार्मिक संगठन अथवा कोई भी अन्य जनाधारित संस्था। लोग अपने कामकाज व्यवस्थित रूप से चलाने तथा अपने हितों की सुरक्षा एवं साधन के लिए सामूहिक प्रयास के महत्व को भली भांति समझते हैं। इसलिए यदि अभिव्यक्ति और संगठन की आजादी हो तो ऐसे समूह और संस्थाएं अपने आप बन जाती हैं। किंतु उनको सार्वजनिक मान्यता प्रदान करके प्रोत्साहन भी दिया जा सकता है। इसका एक रूप यह हो सकता है कि शासन की नीति के संगत क्षेत्रों में उक्त संगठनों की परामर्शी भूमिका को लोक मान्यता दी जाए।

65. क्या नागरिक संगठन अलोकतंत्रीय भी हो सकते हैं ?

नागरिक समाज में सगठन और संस्थाएं स्वाधीन होती हैं अर्थात संगठन करने तथा अपने कार्यकलाप के लिए धन जुटाने का काम स्वतत्र रूप से करती हैं। इसलिए वह शासन की नीतियों को बदलवाने अथवा नकारने की स्थिति में भी होती हैं। यह निर्धारित करना कठिन है कि उनकी यह क्षमता किस सीमा पर जाकर लोकतत्रविरोधी हो जाएगी। लोकतत्र का मुख्य पक्ष है लोगों की राय के अनुसार शासन चलाना। अतः लोकतत्रीय पद्धति से निर्वाचित शासन प्रायः संगठित सामाजिक हितो से परामर्श एवं समझौता करके चलते है। उनमें कुछ ऐसे भी हित होते हैं जो अपनी सगठन-शक्ति, धन अथवा सपर्क के आधार पर दूसरों से अधिक प्रभावकारी हो जाते हैं। यदि प्रभाव का आधार सार्वजनिक सदस्यता हो तो इसे अधिक लोकतत्रीय कहा जाएगा उन संगठनों के मुकाबले जहां प्रभाव का आधार धन या सत्ता का केंद्रीकरण होता है। इसके अतिरिक्त उन सगठनों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए जो अपने आप भी लोकतत्रीय हों अर्थात जिनके नेता सदस्यों के सच्चे प्रतिनिधि हों और वैसे दिखाई भी दें। अंत में, लोकतत्रीय समाज को ऐसे सगठनो से परामर्श अवश्य करना चाहिए जो सामाजिक, आर्थिक अथवा शारीरिक अशक्तता से ग्रस्त लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जो इस कारण अपनी आवाज राजनीति के गलियारों में पहुंचा न सकें और अन्यथा सत्ताविहीन बने रहेंगे।

66. क्या आर्थिक संस्थाओं में भी आंतरिक लोकतंत्र होना चाहिए ?

कुछ लोकतंत्र-प्रेमियों का कहना है कि जो लोग सच्चे तौर पर लोकतंत्र स्थापित करना चाहते हैं उनको कारोबार के स्थान पर लोकतंत्र अवश्य सुनिश्चित करना चाहिए, क्योंकि जहां लोग काम करते हैं उसका उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कम-से-कम इतना तो हो ही कि मालिक लोग मजदूरों के अपने ट्रेड यूनियन

बनाकर स्वय संगठित होने के मार्ग में बाधा न डालें ताकि वे सामूहिक रूप से अपने जीवन-स्तर की रक्षा तथा उसके सुधार के प्रयास कर सके तथा अपने काम और रोजगार के वातावरण मे सुधार ला सके। इससे भी आगे बढते हुए सह-निर्धारण और मुनाफे मे साझेदारी की योजनाएं है जिनसे कर्मचारियों मे पूरी संस्था की सफलता के प्रति उत्तरदायित्व एव प्रतिबद्धता की भावना पैदा होती है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार की योजनाओं के कारण मालिकों के लिए कर्मचारियों को हटाना या अपदस्थ करना कठिन हो जाता है और कर्मचारियो मे अनुशासन रखने में कठिनाई पैदा होती है। परंतु पर्याप्त साक्ष्य इस हक में भी उपलब्ध है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था में वे फर्मे अधिक सफल रहती है जो अपने सभी कर्मचारियों की समस्त क्षमताओं को प्रोत्साहित करती है और ऐसा तभी सभव होता है जब कर्मचारियों को 'मातहत' न समझकर उनके साथ 'नागरिक' जैसा व्यवहार किया जाए। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि लोकतत्र और कार्यकुशलता परस्पर विरोधी नही, यद्यपि ऐसा अवश्य हो सकता है कि कार्यस्थल मे लोकतांत्रिक पद्धति लाने से प्रबधको और नीचे के कर्मचारियों के वेतन तथा काम के वातावरण में व्याप्त विषमताएं दूर करने के लिए दबाव बढ जाए।

आर्थिक संस्थाओं का उत्तरदायित्व

लोकतंत्रीय समाज में आर्थिक सस्थाओ का भी स्थानीय समाज के प्रति उत्तरदायित्व रहता है, विशेषकर वातावरण पर प्रभाव के मामले मे। जिस प्रकार नागरिकों को यह अधिकार होता है कि राजकीय संस्थाओं के किसी कार्यकलाप से यदि उनके हितों को क्षति पहुंचती है तो उसका समाधान प्राप्त कर सकें उसी प्रकार यदि किसी निजी फर्म के कार्य से उनके स्वास्थ्य या भौतिक कल्याण को किसी प्रकार की हानि पहुंचती हो तो उसका निराकरण करा सकें। इसलिए यह अपेक्षा रखना उचित ही है कि निजी आर्थिक संस्थाएं कानूनी नियमों तथा पर्यावरण के संरक्षण को ध्यान में रखते हुए काम करेंगी।

67. क्या लोकतंत्र के लिए निजी संपत्ति आवश्यक है ?

निजी संपत्ति के हक मे यह आर्थिक दलील तो है ही कि यह बाजार अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्य है, इसके हक मे राजनीतिक दलील भी है कि राज्य से स्वतत्र रहते हुए राजनीतिक कार्यकलाप चलाने के लिए वह बहुत महत्व रखती है। अत· कहा जा सकता है कि निजी संपत्ति का नागरिक समाज के निर्माण तथा राजनीतिक स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए मूल महत्व है।

निजी संपत्ति की सीमा

इसका अर्थ यह नहीं कि निजी संपत्ति के अधिकार पर राज्य के प्रत्येक हस्तक्षेप को व्यक्तिगत स्वाधीनता पर आक्रमण कहकर उसका विरोध किया जाए। निजी सपत्ति के अधिकार का आधार ही समाज द्वारा व्यक्तिगत स्वाधीनता पर मान्य सीमा की स्वीकृति और क्रियान्वयन है। सपत्ति के निरकुश अधिकार का अर्थ होगा कि अन्य लोग उसे प्राप्त करने के अधिकार से वंचित रहेगे। इसलिए इस अधिकार को नकारने या सीमित करने की शर्ते होनी चाहिए जो समाज निर्धारित करे। सिद्धात रूप से इन शर्तो को विधान द्वारा बदलते भी रहना चाहिए क्योंकि परिस्थितियां बदलती रहती है। संक्षेप मे, सपत्ति के उपयोग पर कानूनी नियंत्रण रखना वाजिब है और यह भी वाजिब है कि सपत्ति के बटवारे का निर्णय सार्वजनिक नीति का हिस्सा हो। अतः निजी संपत्ति का अधिकार लोकतत्र के लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी सिद्धात रूप से नैसर्गिक या निरकुश अधिकार नहीं कहा जा सकता। यह अधिकार उन शर्तो और सीमाओ के अनुसार ही मिल सकता है जिन पर सामूहिक सहमति हो।

68. क्या आर्थिक विषमता और लोकतंत्र के बीच संगति है ?

इस प्रश्न का उत्तर सीधे 'हां' या 'नही' के रूप मे नही दिया जा सकता। इसका संबध मात्रा से है। समाज मे आर्थिक विषमता जितनी अधिक होगी प्रभावी राजनीतिक समता का निर्माण करना उतना ही कठिन होगा क्योकि धन-सग्रह के बल पर राजनीतिक निर्णय को प्रभावित किया जा सकता है। जहा विषमता अत्यधिक हो वहां धनी लोग गरीबो के वोट को अपने हितो के लिए खतरा बताकर चुनावी प्रक्रिया में हेरफेर और तोड फोड को उचित ठहराने लगते है। दूसरी ओर, गरीब लोग जब देखते हैं कि लोकतत्रीय विधि से अपने जीवन मे सुधार लाना असभव है तो वे यह नतीजा निकालते हैं कि लोकतंत्र के समर्थन का कोई लाभ नही। यहां प्रश्न लोकतंत्र की गुणवत्ता का नही, इसे किसी न किसी रूप में बनाए रखने का है।

राजनीतिक विषमता को कम से कम करना

बाजार अर्थव्यवस्था मे कुछ सीमा तक आर्थिक विषमता अनिवार्य है और उचित भी ठहराई जा सकती है। लोकतंत्र के समर्थको को चाहिए कि जो विषमताए व्याप्त है, उनके राजनीतिक प्रभाव और महत्ता को कम करें। एक ओर तो कानून बनाकर कड़ाई से सुनिश्चित किया जाए कि चुनाव अभियान में व्यक्ति तथा दल एक सीमा

से अधिक व्यय न कर सके, संचार माध्यमों की मालिकी पर इजारेदारी रोकी जाए तथा विभिन्न दलों और सार्वजनिक अभियानो के लिए प्राप्त धन के स्रोतों को प्रकट किया जाए। दूसरी ओर, नागरिकों के लिए जीवन की उन न्यूनतम आवश्यकताओं की उपलब्धि सुनिश्चित की जाए जो नागरिक कर्तव्यों के प्रभावकारी वहन के लिए अनिवार्य है।

69. क्या लोकतंत्र आर्थिक विकास पर निर्भर है ?

इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि कोई देश जितना अधिक आर्थिक रूप मे समृद्ध एवं विकसित होगा उसी हद तक वहा लोकतत्र के बने रहने और अधिनायकतंत्र के गर्त में फिर से न गिरने की सभावना अधिक रहती है। इसका कारण है नागरिकों की मानसिकता तथा नागरिक समाज के ढाचे पर आर्थिक विकास का प्रभाव। साक्षरता एवं शिक्षा का प्रसार अधिक होने से मतदाताओ की परिपक्वता और जानकारी बढती है। विभिन्न प्रकार के तकनीकी एव कारोबारी व्यवसाय करने वाला मध्यम वर्ग बढता है तो पैतृक सत्तावादी अथवा अधिनायकवादी शासन-प्रणाली के प्रति विरोध की भावना भी दृढ होती है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे नागरिक समाज की जटिलता मे भी वृद्धि होती है। बहुत से ऐसे समूह और सगठन उठ खडे होते है जिनमें शासन के अतिक्रमण से अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने का आत्मविश्वास होता है।

अपवाद

लेकिन यह नतीजा निकालना गलत होगा कि लोकतत्र वहीं बना रह सकता है जहा आर्थिक विकास का स्तर बहुत ऊंचा हो। सभी महाद्वीपो में ऐसे देश मौजूद है जहा प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद की दृष्टि से आर्थिक विकास का स्तर नीचा होने के बावजूद खुली चुनावी प्रतिस्पर्धा तथा नागरिक एव राजनीतिक स्वतंत्रताएं सुरक्षित हैं (जैसे भारत, जमैका, बोत्सवाना)। शासन की सार्वजनिक साक्षरता सबंधी नीतियो का महत्व आर्थिक विकास के स्तर से भी अधिक है। जहा लोकतंत्र नया नया है वहा अधिक जरूरत ऐसे निरतर आर्थिक विकास की है जिसकी गति को बनाए रखा जा सके, भले ही उन्होने विकास किसी भी स्तर से शुरू किया हो। समाज के सभी वर्गो को विकास का लाभ मिले और वितरण संबधी सघर्ष कम-से-कम हो, इसके लिए प्रमुख अतर्राष्ट्रीय आर्थिक सस्थाओं तथा विकसित देशो की नीतियां विशेष रूप से सहायक अथवा बाधक सिद्ध हो सकती है।

70. धर्म लोकतंत्र के लिए सहायक होता है या बाधक ?

यह प्रश्न भी ऐसा है जिसका सीधे सीधे 'हा' या 'नहीं' के रूप में उत्तर नही दिया जा सकता। बहुत-कुछ सदर्भ पर निर्भर रहता है। ससार मे व्याप्त विभिन्न धर्मो को ऐसी श्रेणियों में नही बाटा जा सकता कि अमुक धर्म लोकतंत्र के समर्थक हैं, अमुक निष्पक्ष हैं और अमुक ऐसे हैं जिनका प्रभाव इसके विपरीत रहता है। सभी धर्मो मे विभिन्न प्रतिस्पर्धी प्रवृत्तिया पाई जाती हैं। इतिहास साक्षी है कि ईसाई धर्म ने राजाओं के ईश्वरीय अधिकार की भी पुष्टि की और समतावादी गणतत्रवाद की भी। इस तथा अन्य धर्मो के अतर्गत एक ही समय में ऐसे प्रभावकारी गुट भी रहे जिन्होंने एकाधिकारवादी शासनों का समर्थन किया और ऐसे भी जिन्होने अपनी जान हथेली पर रखकर उनके विरोधियो की रक्षा की अथवा शासन द्वारा उनके मानवाधिकारों के अतिक्रमण का भडाफोड किया।

धर्म और राज्य

कहा जा सकता है कि जिन धर्मो में सोपानिक तंत्र विद्यमान होता है और जिनके अनुयायी ऊपर से बताए गए सत्यों को निर्विवाद स्वीकार कर लेते है, वे उन धर्मो के मुकाबले में लोकतत्रीय मानसिकता के कम सहायक होगे जिनमे उनके अनुयायी आस्थाओ पर खुलकर बहस कर सकते है और भिन्न भिन्न व्याख्याए देने के लिए आजाद है। लेकिन लोकतंत्र के लिए प्रश्न इतना आतरिक सगठन का नही जितना धर्म और राज्य के परस्पर संबध का है। यह संबंध जितना अधिक निकट का होगा उतनी ही कम संभावना होगी अन्य धर्मावलंबी नागरिको को समान दर्जा दिए जाने की। इसकी अति तब होती है जब धर्माधिकारी राज्य को धरती पर धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन मान लेते है। उस स्थिति मे राजनीति धर्मयुद्ध का रूप ले लेती है तथा अन्य धर्मावलंबियों को बलपूर्वक अपनी आस्था बदलने पर मजबूर किया जाता है, उन पर अत्याचार किया जाता है और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता का गला घोंट दिया जाता है।

धार्मिक सहिष्णुता

इसी प्रकार के दमन, गृहयुद्ध तथा साप्रदायिक हिसा के इतिहासगत अनुभवो ने धार्मिक सहिष्णुता के विचार को जन्म दिया। यदि हम यह मानकर भी चले कि हमारे धर्म मे ही अतिम और अनन्य सत्य निहित है तो भी दूसरो को यह स्वीकार कराने की कीमत इतनी अधिक चुकानी पडती है कि आज के बहुधर्मी ससार में इसे बिल्कुल उचित नहीं ठहराया जा सकता। सहिष्णुता का अर्थ यह नहीं कि हम

अपनी आस्थाओं को त्याग दे या दूसरों के धर्मातरण की चेष्टा न करें। इसका अर्थ केवल यह है कि हम मानव गरिमा का आदर करते हुए निर्णय उन्हीं पर छोड़ दे, भले ही वे गलत निर्णय क्यों न ले लें।

अल्पसंख्यक धर्म

सहिष्णुता तथा धर्म एव आस्था की विविधता की मान्यता उस वातावरण मे पनपती है जहां राज्य के अतर्गत किसी भी धार्मिक विश्वास की स्थिति विशिष्ट न हो। ऐसा राज्य सभी धर्मो के साथ कराधान द्वारा अथवा धार्मिक शिक्षा के लिए सहायता देकर बराबरी का व्यवहार कर सकता है। जहां किसी भी एक धर्म के अनुयायी बहुत बड़ी सख्या में हो वहां यदि राज्य राजकीय समारोहो आदि में उस धर्म विशेष को प्रधानता भी देता हो तो भी सहिष्णुता कायम रह सकती है। परंतु यदि राज्य बहुसंख्यक धर्म की शिक्षाएं उन पर थोपने की चेष्टा करे जिनको वे मान्य नहीं हैं तो निश्चय ही मतभेद रखने वालों की अभिव्यक्ति तथा सगठन की लोकतत्रीय स्वतंत्रताओं को चोट पहुचेगी और इस प्रकार का असर बहुसख्यक धर्म के उन अनुयायियो पर भी पड सकता है जो उसकी किन्ही शिक्षाओ से मतभेद रखते हों। यहां हमको ध्यान रखना होगा उस अंतर का जो किसी समय विशेष पर बहुसंख्यकों की इच्छा तथा शासन के सार्वजनिक नियंत्रण के लिए और राजनीतिक समता के तकाजे के बीच है।

71. क्या ऐसे स्थानों पर लोकतंत्र संभव है जहां धार्मिक अथवा जातीय द्वंद्व व्याप्त है ?

इस निष्कर्ष को नकारना मुश्किल है कि यदि किसी देश के निवासियों मे समान राजनीतिक पहचान की कोई भावना न हो तो वहां स्वतंत्र संस्थाएं स्थापित करना कठिन होता है। पहचान का आधार ऐसा साझा ऐतिहासिक अनुभव भी हो सकता है जिसके कारण लोग धर्म, जाति, भाषा आदि के भेदों से ऊपर उठ सकें। ऐसी संस्थाएं भी यह मानसिकता पैदा कर सकती हैं जिनमें सभी समूहो के साथ समान व्यवहार होता हो और जिनको सभी मानते हों। सांप्रदायिक विरोध वहां अधिक पैदा होता है जहां किसी समुदाय को राजनीतिक पद से बहिष्कृत होने के फलस्वरूप भेदभाव, हित की हानि तथा दमन का सामना करना पडे या ऐसा होने का भय हो। अदूरदर्शी राजनीतिक नेता इस प्रकार के भय का अस्थायी लाभ उठाने का प्रयास करते है। परंतु अलगाव या विभाजन इसका समुचित समाधान नहीं, क्योंकि इससे समस्या का केवल स्थानांतरण होता है। नए अल्पसंख्यक समूह बन जाते हैं

जिनकी अपनी शिकायतें होती हैं। बीते समय के दमन का समाधान यह नहीं कि भविष्य के लिए दमन के नए रूप घड़ लिए जाए।

संवैधानिक रक्षोपाय

प्रायः सभी वर्तमान समाज विभिन्न जातियों और धर्मो के लोगों से मिलजुल कर बने हैं। अतः सर्वत्र यह आवश्यकता है कि अल्पसंख्यको के प्रति व्यवस्थित भेदभाव और दमन से सुरक्षा के प्रबध किए जाए। (देखिए प्रश्न 10, 12, 50 और 63)। जब तक कोई नया राज्य ऐसी व्यवस्था का प्रमाण प्रस्तुत न करे, उसे अतर्राष्ट्रीय मान्यता नहीं देनी चाहिए।

72. परिवार की संस्था लोकतंत्र के लिए कहां तक प्रासंगिक है ?

प्राचीन काल मे, तथा कुछ समाजो में आज भी, पारिवारिक व्यवस्था इस प्रकार की होती है कि बच्चों के पालन-पोषण और देखभाल करने, घर मभालने ओर पुरुषों की घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने की जिम्मेदारिया महिलाओं पर छोडी जाती है। यह घरेलू व्यवस्था है और लगता है कि यह मूलतया निजी मामला है, परतु इसका गभीर सार्वजनिक महत्व हैं। इससे महिलाओ के पास सार्वजनिक कार्य के लिए ममय और शक्ति कम रह जाती है। इसका असर इस विचार पर भी होता है कि किस प्रकार की सार्वजनिक भूमिका महिलाओ के योग्य है। जिस सीमा तक यह व्यवस्था और प्रवृत्ति प्रचलित होगी उस हद तक महिलाएं राजनीतिक समता से वचित रहेगी। महिलाओं की अनुपस्थिति से लोकतांत्रिक जीवन की गुणवत्ता भी कम हो जाती है। परंतु उचित शासकीय नीतियो द्वारा सार्वजनिक जीवन मे महिलाओं का स्थान ऊंचा किया जा सकता है। महिलाएं स्वय भी महिला सगठनो तथा स्वयंसेवी गुटो द्वारा इन नीतियो को प्रभावित कर सकती हैं। (देखिए, प्रश्न 26)

बच्चे और लोकतंत्र

परिवार का एक सार्वजनिक महत्व यह भी है कि यह भावी नागरिकों के विकास में सहायक होता है। बच्चा अनुभव करे कि सभी लोग समान है, घर के कामों में उससे राय ली जाए तथा वह दूसरों की राय का आदर करना भी सीखे। साथ ही, उसमें यह समझदारी भी पैदा हो कि अधिकारों के साथ कर्तव्य भी जुड़े रहते हैं तो भावी जीवन में लोकतंत्रीय नागरिकता निभाने के लिए यह प्रशिक्षण बहुत



राजनीति और पारिवारिकता, साय साथ

महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। परिवार मे ही व्यापक समुदाय के प्रति धारणाए और राजनीतिक मुद्दो के बारे मे विचार बनते है जो बचपन के पश्चात बालिग होने पर भी बने रहते हैं।

73. लोकतंत्र की शिक्षा देने में विद्यालयों की क्या भूमिका हो सकती है ?

विद्यालय मे विशिष्ट कुशलताओ तथा क्षमताओ, जैसे साक्षरता एव ज्ञानार्जन का विकास तो होता ही है, इसके साथ साथ बच्चो को समाज की सस्कृति और परपराओ से परिचित कराने मे भी वे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इससे बच्चो को अपनी सस्कृतियो के गुण-दोष पहचानने मे मदद मिलती है और उनमे यह समझ पैदा होती है कि विभिन्न आस्थाओं और विश्वासो से परिपूर्ण परस्परनिर्भर संसार मे उनका क्या स्थान है। लोकतत्र के विशिष्ट प्रशिक्षण से बच्चों को अपने देश के सविधान तथा उसके विकास का ज्ञान प्राप्त होता है, नागरिक अधिकारो और कर्तव्यो की समझ पैदा होती है तथा मानवाधिकारो और उनका महत्व समझ में आता है। कितु लोकतत्रीय शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान-प्राप्ति नहीं। यह प्रशिक्षण समसामयिक मुद्दो पर बहस, अपने तर्क प्रस्तुत करने तथा दूसरो के विचार सुनने, विद्यालय तथा समाज से संबधित अन्य मामलो मे राय देने की प्रक्रियाओ द्वारा भी होता है। इन प्रक्रियाओ के विभिन्न रूप हैं कक्षा सभाए, निर्वाचित विद्यालय परिषद इत्यादि। ये कौशल और ज्ञान प्राप्त करने के लिए कौन-सी आयु उपयुक्त है, यह देश विशेष और वहा की शिक्षा पद्धति पर निर्भर करता है। यदि कोई लोकतंत्र इस प्रशिक्षण की यह समझकर अवहेलना करेगा कि ये राजनीतिक गतिविधिया है तो उसका जनाधार कमजोर होने का गंभीर खतरा पैदा हो जाएगा।

74. लोकतंत्रीय संस्कृति का पोषण कैसे किया जा सकता है ?

लोकतत्र के विचारको का सदा यह मत रहा है कि लोकतंत्रीय सस्थाओं की गतिविधियों में व्यावहारिक भाग लेने से लोकतंत्रीय संस्कृति का विकास होता है। उदाहरणार्थ इससे लोगो को उन मुद्दो का ज्ञान प्राप्त करने का प्रोत्साहन मिलता है जिनके बारे में उनको निर्णय लेना है। हर स्तर पर राजनीति में भाग लेने से आवश्यक कुशलता और प्रवृत्ति भी विकसित होती है। इसलिए राजनीति के औपचारिक क्षेत्र तथा नागरिक समाज के विभिन्न संगठनो में भाग लेने के व्यापक अवसर उपलब्ध होने चाहिए। राजनीतिक दल तथा विभिन्न प्रकार के स्वैच्छिक संगठन भी अपने सदस्यो के राजनीतिक प्रशिक्षण के काम मे महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं।

लोकतंत्रीय संस्कृति का पोषण

प्रश्न 73 में बताई गई विद्यालयी शिक्षा के अतिरिक्त और भी अनेक विधियों द्वारा लोकतंत्रीय संस्कृति का पोषण किया जाता है। विभिन्न कलाएं लोकतंत्रीय विचार और व्यवहार तथा सामयिक समस्याओं और असंतोष की विचारपूर्ण अभिव्यक्ति तथा समाज के लिए आईने का उत्तम माध्यम बन सकती हैं। देश के इतिहास तथा उसकी संस्थाओं के लोकतंत्रीय एवं जनप्रिय पहलुओं को उजागर करने के लिए सार्वजनिक समारोह आयोजित किए जा सकते है। व्यापक अर्थ मे, सचार-माध्यम राजनीतिक प्रशिक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे यह काम जनता की जानकारी एवं चेतना परिष्कृत करके, शासन की नीति का मूल्यांकन करके तथा लोगों के आपसी विचार-विनिमय की सुविधा का माध्यम बनकर अजाम देते हैं।

6

लोकतंत्र का भविष्य

75 आज लोकतंत्र के सामने क्या प्रमुख समस्याएं हैं ?

आज लोकतंत्र के सामने जो समस्याएं हैं, वे प्रायः आर्थिक क्षेत्र से उत्पन्न हुई हैं और इनका प्रभाव अधिकतर देशों के लोगों पर पड़ रहा है। विकसित अर्थव्यवस्थाओं में बेकारी निरतर बढ़ रही है, जैसा कि 1930 के बाद कभी नहीं हुआ था। इसका उन राज्यो के बजटों तथा जनहितकारी प्रावधानों पर कुप्रभाव चिंता का विषय बन गया है। जो देश साम्यवादी व्यवस्था से निकले हैं, उनको निजीकरण और बाजारीकरण के झटके लग रहे हैं जिससे वहां असुरक्षा की भावना फैल रही है, विषमता गंभीर रूप ले रही है और बेतहाशा मुद्रास्फीति का खतरा पैदा हो गया है। बहुत से अल्पविकसित देशों में उत्पादन-वृद्धि कई वर्षो से शून्य या उससे भी नीचे चल रही है। इसके फलस्वरूप वहां की जनता अधिक गरीब हो रही है, जनहितकारी कार्यक्रम काटे जा रहे हैं और दुर्भिक्ष का संकट सामने है।

आर्थिक कठिनाई

आजकल विभिन्न देशों के लोग जैसी आर्थिक कठिनाइयों में से गुजर रहे हैं, उनका अनिवार्यतया राजनीतिक प्रतिफल भी सामने आ रहा है। आर्थिक अवसर पाने के लिए संघर्ष गहरा होने तथा असफलता असह्य हो जाने के कारण हर प्रकार के सामाजिक संघर्ष तीव्र हो रहे हैं। इससे आर्थिक स्थानांतरण को बढ़ावा मिलता है और उसके फलस्वरूप आप्रवासियों के प्रति विरोध बढ़ता है और विकसित देशों के लोग तकाजा करते हैं कि देश की सीमाओं को बंद कर दिया जाए। आर्थिक मंदी आती है तो समान नागरिकता का आदर्श स्थापित करना कठिन हो जाता है। लोगों को विश्वास नहीं रहता कि लोकतंत्रात्मक शासन समाज की समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। शक्तिशाली लोकतंत्र तो ये झटके बर्दाश्त कर भी लें

परंतु नए लोकतत्रों के लिए संकट भारी पड सकता है। उन्हे सुस्थापित होने के लिए अधिक अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है।

राजनीतिक नियंत्रण का ह्रास

इस समय जो आर्थिक मंदी चल रही है, उसके तीन पक्ष विशेष रूप से लोकतत्र मे विश्वास कम करने का कारण बन रहे है। पहला तो यह कि किसी भी देश के आर्थिक भाग्य का निर्णय करने वाली प्रक्रियाए तथा सस्थाए अब देश की सीमा से बाहर है और प्रभुसत्ताधारी माने जाने वाले शासन का उन पर कोई नियत्रण नही हो सकता। आर्थिक नियत्रण पर इस ह्रास का प्रभाव सभी देशो पर पडता है, कितु कम विकसित देशो पर इसका विशेष असर पडता है। वह न तो कच्चे माल की कीमतों पर प्रभाव डाल सकते है, न ही ऋण की अदायगी या आवक पूर्जीनिवेश की शर्तो के मामले में कुछ कर सकते है और इन सबका महत्व बहुत बडा है। यह स्थिति और भी गभीर इसलिए हो गयी है कि विगत दो दशको मे आर्थिक परपरावाद का बोलबाला रहा है जिसके अनुसार अपने अपने देश के आर्थिक भविष्य के निर्माण अथवा सुधार के लिए शासन कुछ खास नही कर सकते क्योकि सभी निर्णय बाजार की शक्तियों पर और इस पर आश्रित हैं कि बाजार द्वारा प्रस्तुत अवसर के प्रति व्यक्तियो तथा फर्मो की अनुक्रिया क्या है। इसके साथ ही, तीसरा पक्ष है व्यक्तिगत तथा परिवारगत स्वार्थभावना का। इससे सामूहिक उत्तरदायित्व का भाव लुप्त हो गया है जो अधिक सक्रिय शासन को स्थिरता प्रदान कर सकता है। दयालुभाव भी नही रहा जिसके कारण अपने देश या विदेश के गरीबो के प्रति उदारता बरती जा सकती हो। आज समाजवाद अपनी साख खो चुका है और प्रगतिशील अतर्राष्ट्रवाद को कोई मुह नही लगाता। ऐसा नयी विचारधारा के निर्माण की आवश्यकता है जिससे यह धारणा बने कि आर्थिक एव सामाजिक सह-निर्भरता से उत्पन्न समस्याओं का हल सामूहिक रूप से ही हो सकता है। परतु वह कहीं दिखाई नहीं देती।

76. क्या निर्धन समाज सचमुच लोकतंत्र चला सकते हैं ?

निर्धन समाज लोकतत्र नहीं चला सकते, ऐसा सोचने के पीछे अनेक मुश्किल सरोकार हैं। एक तो यह कि लोकतंत्र की व्यवस्था पर धन और समय बहुत खर्च होता है और राज्य के विरल संसाधनों का उपयोग करके जनता की अन्य जरूरी आवश्यकताओं (स्वास्थ्य, शिक्षा, जीविका के साधन आदि) की पूर्ति की जा सकती है। इसके मुकाबले चुनाव की व्यवस्था तथा लोकतंत्रीय भूमिका निभाने के लिए

अधिकारियों के प्रशिक्षण पर व्यय और संसदीय तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व के फलस्वरूप नीति-निर्धारण तथा उसको कार्यान्वित करने में होने वाला अनिवार्य विलंब बेकार की चोचलेबाजी प्रतीत होती है।

लोकतंत्र से हानियां

उपर्युक्त संकीर्ण वित्तीय तर्क के अतिरिक्त लोकतत्र से और भी कई हानियां होती है जो विकासशील अर्थव्यवस्थाओ तथा शासकीय प्रणालियों के परिप्रेक्ष्य में समाज के लिए लोकतंत्र के लाभो के मुकाबले भारी पडती हैं। चुनावी प्रतिस्पर्धा से सामाजिक एवं राजनीतिक बिखराव पैदा होता है, विशेषकर वहां जहा राज्य की स्थापना नई हुई हो और राष्ट्रीय पहचान पूरी तरह विकसित न हो पाई हो। इसके अतिरिक्त लोकतत्र को अदूरदर्शिता, उत्तेजक भाषणबाजी तथा कट्टर असहिष्णुता से सुरक्षित रखने के लिए मतदाताओ का जो बौद्धिक स्तर और परिपक्वता चाहिए, वह आर्थिक विकास से ही पैदा होती है। इस विचार का अभिप्राय यह नहीं कि राष्ट्रीय एकता एव आर्थिक विकास को लोकतंत्र पर प्राथमिकता दी जाए। किंतु ऐतिहासिक विकासक्रम मे लोकतंत्र की स्थापना से पूर्व इनका होना आवश्यक है, क्योंकि ये उसका धरातल या पूर्व शर्त हैं।

लोकतंत्र एवं विकास

पहले उठाए गए प्रश्नों का उत्तर देते हुए इन आपत्तियों तथा कठिनाइयों के विशेष पहलुओं का जायजा लिया जा चुका है (देखिए प्रश्न 13, 36, 69) परतु फिर भी इन पर समग्र दृष्टि से विचार करना उचित रहेगा। पहली बात तो यह है कि विकास का मापदड केवल कोई मात्रा (जैसे प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद) नहीं बन सकती। यह अवधारणा गुणात्मक भी है और जनता की खुशहाली से संबंधित है। खुशहाली का अनुमान लगाने में यह भी देखा जाता है कि कुल आय का बटवारा समाज में कैसा है और राज्य का व्यय कहां अधिक होता है, स्वास्थ्य एवं शिक्षा आदि पर अथवा सेना पर। और आर्थिक विकास के ये गुणात्मक पहलू स्वयं भी इस पर निर्भर हैं कि राजनीतिक शासन का चरित्र कैसा है और वह जनमत के प्रति कितना संवेदनशील है। लोकतंत्र मे जनमत का प्रायः तकाजा होगा कि ऐसी नीतियां बनें जिनसे आर्थिक विषमता कम हो और राज्य का व्यय सेना या कम सामाजिक लाभ के चमकदमक वाले कार्यों की बजाय स्वास्थ्य, शिक्षा तथा बुनियादी सामाजिक ढांचे पर अधिक हो। इसके अतिरिक्त खुला उत्तरदायी शासन गोपनीय अथवा सत्तावादी शासन के मुकाबले सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग अधिक कुशलतापूर्वक करेगा। इसमें व्यापक मानवाधिकार हनन, पर्यावरण के बिगड़ने

अथवा दुर्भिक्ष जैसे विकट घोटाले बरसो तक छुपे भी नहीं रह सकते। लोकतंत्र, विकास तथा मानवाधिकार सुरक्षा का कैसा सकारात्मक सबध है, इसकी सशक्त व्याख्या जून 1993 में वियाना मे संपन्न विश्व मानवाधिकार सम्मेलन के अंतिम घोषणापत्र में की गई है।

लोकतंत्रों में सुधार

इसलिए वास्तविक प्रश्न यह है कि गैर उत्तरदायी तथा गैर संवेदनशील राजनीतिक सत्ता की अतीव गिरावट को देखते हुए क्या समाज का सचालन बिना लोकतंत्र के सुचारु रूप से हो सकता है ? यह भी सोचना चाहिए कि लोकतंत्र को सर्वथा छोड देने की बजाय इस पर बेहतर ढंग से अमल कैसे किया जाए और उसे देश विशेष की परिस्थितियो तथा आवश्यकताओ के लिए प्रसंगिक कैसे बनाया जाए।

77. विकसित लोकतंत्र विकासशील लोकतंत्रों की सहायता कैसे कर सकते हैं ?

विकसित लोकतत्र विकासशील लोकतंत्रो के लिए कई प्रकार से सहायक हो सकते हैं। सामान्य रूप से तो वे उनके विकास करने के अधिकार को खुले दिल से स्वीकार करें और विकासशील देशों के विकास के प्रति अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के कर्तव्यों को रेखांकित करें। ठोस रूप से वे उन्हें अच्छे लोकतंत्रीय व्यवहार के प्रचार एवं प्रशिक्षण में सहायता दे सकते हैं। विकासशील देशों के विभिन्न सार्वजनिक अधिकारियों (चुनाव अधिकारी, ससदीय सचिव, सांविधानिक वकील, वित्त नियंत्रक, विधान सभा के सदस्य, दलों के पदाधिकारी आदि) के प्रशिक्षण में सहायता दी जा सकती है। चुनाव प्रतिस्पर्धा में समुचित व्यवहार का विकास वहा पूर्ण कहा जा सकता है जहा चुनाव की स्वतंत्रता और निष्पक्षता की जांच के लिए अंतर्राष्ट्रीय पेनल की प्रथा को मान्यता प्राप्त हो और जहां अंतर्वस्तु और प्रक्रिया दोनों की दृष्टि से मानवाधिकारों का निर्वाह अंतर्राष्ट्रीय मानदंडो के अनुसार किया जा रहा हो। अच्छे व्यवहार के मानदंड स्थापित करने में खुले और उत्तरदायी शासन को भी शामिल किया जा सकता है। सब दृष्टिकोणों से देखा जाए तो कुछ विकसित लोकतंत्रों के व्यवहार में भी दोष निकल आएंगे। यदि वे अपने व्यवहार को अंतर्राष्ट्रीय मानदंड के अनुकूल बनाने की तत्परता दिखाएं तो उनकी सहायता विकासशील देशों में अधिक विश्वसनीय समझी जाएगी।

प्रभुसत्ता तथा अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप

लोकतत्र विकसित करने मे इस प्रकार की सहायता उतनी विवादास्पद नहीं है जितना कि आजकल प्रचलित वह व्यवहार है जिसमे बहुदलीय चुनाव पद्धति लागू कराने अथवा मानवाधिकारों के अतर्राष्ट्रीय मानदंडों का न्यूनतम पालन सुनिश्चित करने के लिए इन्हें आर्थिक सहायता देने या न देने की शर्तो का रूप दे दिया जाता है जिसे राजनीतिक शर्ते कहा जाता है। जो लोग विकसित देशो के इस व्यवहार का समर्थन करते है उनका तर्क है कि बहुत समय तक विकास-सहायता का उपयोग कतिपय देशों में सत्तावादी शासन-तंत्रों को बनाए रखने के लिए किया जाता रहा है जहां मानवाधिकारों का घोर अतिक्रमण होता है। इस प्रकार की 'शर्तों' से विरोधी गुटों तथा लोकतंत्र-समर्थक अभियान चलाने वालों को प्रोत्साहन मिलेगा। इस नीति के विरोधियो का तर्क है कि व्यवहार में यह नीति असंगत तथा अंतर्विरोधपूर्ण है, क्योंकि इससे विदेश नीति के अन्य उद्देश्य साधे जाते हैं। इसका प्रभाव अनिश्चित है और इसकी मान्यता कई बार दिखावा मात्र होती है। और विरोधाभास यह है कि आंतरिक आत्मनिर्णय का अधिकार सुनिश्चित करने के लिए बाहर के दबाव का प्रयोग किया जाता है। बहुत-कुछ ऐसी नीतियों के संदर्भ विशेष तथा उन्हें लागू करने की विधि पर निर्भर करता है। यह तो निर्विवाद ही है कि संसार उस दिशा मे बढ रहा है जहा 'प्रभुसत्ता' के नाम पर उन राज्यो का पक्ष नहीं लिया जा सकता जो स्वयं मानवाधिकार हनन के दोषी हो (देखिए प्रश्न 55)। फिर भी, बाहरी दबाव अधिक कारगर तब होता है जब यह अनुदान देने और लेने वालों के बीच द्विपक्षीय संधि द्वारा नहीं बल्कि प्रतिष्ठित क्षेत्रीय अथवा अतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा मान्यता प्राप्त मानवाधिकार संधियों के प्रवर्तन पर जोर देकर डाला जाता है।

लोकतंत्र और 'संरचनात्मक समायोजन'

विकसित देशों द्वारा राजनीतिक शर्ते लगाने की नीति का विरोध स्वयं नीतियों के प्रति विरोध नहीं कहा जा सकता। इस विरोध का कारण यह अंतर्विरोध है कि एक ओर तो लोकतंत्र का समर्थन किया जाता है और दूसरी ओर संरचनात्मक समायोजन और ऋण की चुकौती पर बल दिया जाता है जिससे निर्बल लोकतंत्र और भी निर्बल हो जाते हैं। आर्थिक सहायता का संभावित लाभ विदेशी ऋण पर ब्याज के भुगतान के नीचे दब जाता है। संरचनात्मक समायोजन के अनुसार सार्वजनिक व्यय में जब बिना सोचे-समझे कमी की जाती है तो उन कार्यक्रमों को क्षति पहुंचती है जो गरीब लोगों को सहारा देते हैं। लोकतांत्रिक प्रक्रिया को बनाए रखने तथा यह विश्वास बनाए रखने के लिए कि राज्य स्वयं अपने देश का भाग्यविधाता है इन कार्यक्रमों की सबसे अधिक महत्ता है।

78. क्या अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को लोकतंत्रीय बनाया जा सकता है ?

समकालीन लोकतत्रों के सामने एक बड़ी समस्या यह है कि उनका आत्मनिर्णय का अधिकार क्षीण हो गया है। अपनी जनता की भलाई से संबध रखने वाले अधिकतर कार्यो का नियंत्रण राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर से होता है। इस राष्ट्रीय स्वायत्तता की कमजोरी के आर्थिक पहलू पर चर्चा विगत प्रश्नों (75 तथा 77) में की जा चुकी है। परंतु समस्या इससे अधिक व्यापक है। पर्यावरण के बिगाड, प्राकृतिक संसाधनो पर नियंत्रण, जनसख्या संबधी आदोलन तथा परपरागत सैनिक खतरों के प्रश्न भी इसके साथ जुडे हैं।

उत्तरदायित्व के स्वरूप

लोकतंत्र के सामने दो प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हो गए है। एक तो यह कि राष्ट्रो के भाग्य का निर्धारण करने वाली सार्वभौम शक्तियों तथा अतर्राष्ट्रीय निजी निगमों को नियमबद्ध तथा नियत्रित करने के लिए सक्षम अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं कैसे बनाई जाएं और जो है उनको मजबूत कैसे किया जाए। दूसरा प्रश्न यह है कि इन संस्थाओं पर सार्थक लोकतत्रीय उत्तरदायित्व कैसे लागू किया जाए। इस समय अंतर्सरकारी सधियों के रूप मे बहुत-सी क्षेत्रीय और सार्वभौम सस्थाए मौजूद हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (आई. एम. एफ.) अतर्राष्ट्रीय•न्यायालय तथा स्वयं संयुक्त राष्ट्र सघ के रूप में ऐसी सस्थाएं भी विद्यमान है जिनका कार्यक्षेत्र बृहत है और जो स्थायी है। लोकतंत्र की दृष्टि से इन सस्थाओं में कई कमजोरियां हैं। एक तो इनका कार्यव्यवहार और उत्तरदायित्व संकीर्ण अंतर्सरकारी प्रतिनिधित्व पर आधारित है। इनमें सुनवाई सरकारों की होती है, विश्व भर के सामान्य जनमत की नहीं। जो राज्य इनके निर्णयों की अवहेलना करते हैं, उनके विरुद्ध ये कुछ कर नहीं सकतीं। इनके अंदर निर्णय जनसंख्या के अनुपात से नहीं होते, प्रतिनिधियों का महत्व या तो उनकी विगत साम्राज्यिक हैसियत पर निर्भर करता है या समकालीन शक्ति पर।

विश्व संसद

अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओ को लोकतंत्रीय बनाने का क्रम धीमा ही होगा। एक उपाय तो यह हो सकता है कि वर्तमान संस्थाओं जैसे मानवाधिकार अभिसमयों और न्यायालयों के प्रभाव-क्षेत्र में विस्तार किया जाए या फिर यूरोपीय संसद की भांति क्षेत्रीय संसदें बनें। सार्वभौम समस्याओं के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाधान की



निराश न हों। लोकतंत्र आपको अधिक सफलतापूर्वक चुनाव लड़ने का दुबारा मौका देता है।

आवश्यकता इतनी गंभीर हो गई है कि विश्व संसद गठित करना कपोल कल्पना मात्र नहीं रह गया। ऐसी विश्व ससद शीघ्र बनाने की आवश्यकता है जो अपने निर्णयों को कार्यान्वित कराने में सक्षम हो और विश्व नागरिक की अवधारणा के आधार पर बनी हो।

79. क्या राष्ट्रीय इकाइयां नए "सार्वभौम समाज" में विलीन हो जाएंगी ?

"सार्वभौमीकरण" की जो प्रक्रिया हाल में सामने आई है, उसका एक पहलू विरोधाभासयुक्त है। एक ओर तो इससे स्थानीय पहचान तथा ऐतिहासिक संस्कृतियों पर बल देने की प्रेरणा प्रबल होती है और दूसरी ओर संसार भर के लोग एक-दूसरे के साथ अधिक निकटता से जुड़ रहे हैं। राष्ट्रीय संस्कृतियों एवं परंपराओ के लुप्त हो जाने का तो कोई खतरा नही। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय पहचान की एक सीमा तक सुरक्षा करना अधिक विश्वस्त और उदार अंतर्राष्ट्रवाद की बुनियादी शर्त है। भविष्य की सभावना यह है कि नागरिकों की राजनीतिक वफादारी पर राष्ट्र-राज्य की इजारेदारी या एकाधिकार समाप्त हो जाए और उसका स्थान विविध और विभिन्न पहचान वाली इकाइया ले लें। लोग कहेंगे कि हम अमुक स्थान, राष्ट्र अथवा अंतर्राष्ट्रीय संघ या अमुक क्षेत्र अथवा उपमहाद्वीप के निवासी सदस्य हैं और विश्व नागरिक हैं। लोकतंत्र समर्थकों को ऐसी प्रगति का स्वागत करना चाहिए। लोकतत्र तथा इसके सिद्धांत सार्वभौमिकता की ओर प्रवृत्त करते है और अपने अनुयायियों को राष्ट्र-राज्य की सीमाओं तथा राजनीतिक वफादारी को एक ही स्तर के बंधन से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करते हैं।

80. लोकतंत्र को सर्वसाधारण के लिए प्रासंगिक कैसे बनाया जा सकता है ?

लोकतंत्र विषयक प्रश्नोत्तर की पुस्तक का उपसंहार इस अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न के साथ करना ही उचित है। यदि सर्वसाधारण को लोकतंत्र से कोई लाभ दिखाई नहीं देगा क्योंकि इसकी उनके दैनिक जीवन तथा जीवन की परिस्थितियों के साथ कोई प्रासंगिकता नहीं है तो वे इसकी सुरक्षा के लिए कोई प्रयास नहीं करेंगे। लोकतंत्र खाली ढोल या निर्जीव ढांचा बनकर रह जाएगा, यदि चुनाव के समय जो विकल्प उनके सामने प्रस्तुत हुए हैं उनमे कोई अंतर दिखाई नहीं देता, क्योंकि राजनीतिक लोग या तो जनता की इच्छा के अनुसार सुधार करने के लिए सक्षम नहीं हैं या फिर ऐसा करने की उनमें इच्छा ही नहीं है। यदि बुनियादी नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की ऐसी गारंटी नहीं है कि लोग निर्भीक होकर सार्वजनिक समस्याओं

के समाधान के लिए संगठन बना सकें और अभियान चला सकें और यदि लोग एकदम स्थानीय स्तर पर अपने कार्यस्थल तथा पड़ोस की हालत बदलने के लिए सक्षम नहीं हैं तो लोकतंत्र व्यर्थ है। लोकतत्रवादियों के सामने प्रमुख कार्य यह है कि लोकतत्र की आत्मा को दृढ कैसे किया जाए तथा सार्वजनिक नियंत्रण तथा राजनीतिक समता के सिद्धांतों को संस्थागत रूप में प्रभावकारी कैसे बनाया जाए, चाहे प्रसंग किसी पहले के सत्तावादी शासन को लोकतंत्रीय रूप देने का हो अथवा अरसे से स्थापित लोकतंत्रो के नवीकरण या दृढीकरण का।

अन्य पठन सामग्री

अर्बलास्टर, एन्थनी; 1994, *डेमोक्रेसी,* बकिंघम : ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, दूसरा सस्करण

कीन, जॉन; 1991, *द मीडिया एंड डेमोक्रेसी,* कैम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस

डन, जॉन; संस्क. 1992, *डेमोक्रेसी : द अनफिनिश्ड जर्नी,* आक्सफोर्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

डॉल, राबर्ट; 1989, *डेमोक्रेसी एड इट्स क्रिटिक्स,* न्यू हेवन एड लदन : याले यूनिवर्सिटी प्रेस

निकल, जेम्स डब्ल्यू; 1987, *मेकिंग सेंस आफ ह्यूमन राइट्स,* बर्कले · यूनिवर्सिटी आफ केलीफोर्निया प्रेस

प्लेटनर, मार्क एड डायमंड लेरी; संस्क. 1992, *केपिटलिज्म, सोशलिज्म एंड डेमोक्रेसी* (जर्नल आफ डेमोक्रेसी स्पेशल इश्यू न. 3.3) बाल्टीमर : जॉन हापकिस यूनिवर्सिटी प्रेस

बॉब्बिओ, नोर्बर्टो; 1987, *द फ्यूचर आफ डेमोक्रेसी,* कैम्ब्रिज : पॉलिटी प्रेस

यूनाईटिड नेशंस, 1988, *ह्यूमन राइट्स फैक्ट शीट सीरिज*

यूनाईटिड नेशंस, 1993, *ह्यूमन राइट्स : ए कम्पायलेशन आफ इंटरनेशनल इंस्ट्रयूमेंट्स,* दो खंड

रोडले, नाईगल; 1987, *द ट्रीटमेंट आफ प्रीजनर्स अंडर इटरनेशनल ला,* आक्सफोर्ड आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

रोसास, अल्लान और हेल्जेसेन, जॉन; सस्क. 1992, *ह्यूमन राइट्स एंड प्लूरेलिस्ट डेमोक्रेसी,* डॉरडरेच्ट : मार्टिनस निझोफ

लिज्फर्ट, एरेंड; 1984, *डेमोक्रेसिस,* न्यू हेवन एड लंदन : याले यूनिवर्सिटी प्रेस

हंटीगटन, सेमुअल; 1991, *द थर्ड वेव : डेमोक्रेटाइजेशन इन द लेट ट्वेटीथ सैचुरी,* नारमैन एंड लंदन : यूनिवर्सिटी आफ ओक्लाहोमा प्रेस

हेडेनिअस, एक्सेल; 1992, *डेमोक्रेसी द एड डेवलपमेट,* कैम्ब्रिज कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

हेल्ड, डेविड, सस्क. 1993, *प्रास्पेक्ट्स आफ डेमोक्रेसी,* कैम्ब्रिज पॉलिटी प्रेस

हैनम हर्स्ट; 1990, *आटोनामी, सौवरेनटी एड सेल्फ-डिटरमिनेशन,* फिलेडेफिया यूनिवर्सिटी आफ पेन्साईलवेनिया प्रेस

मुद्रक : ब्यूटी प्रिंट, 10/8020 मुलतानी ढांडा, पहाड़गंज, नई दिल्ली-55